सल्लेखना से समाधि

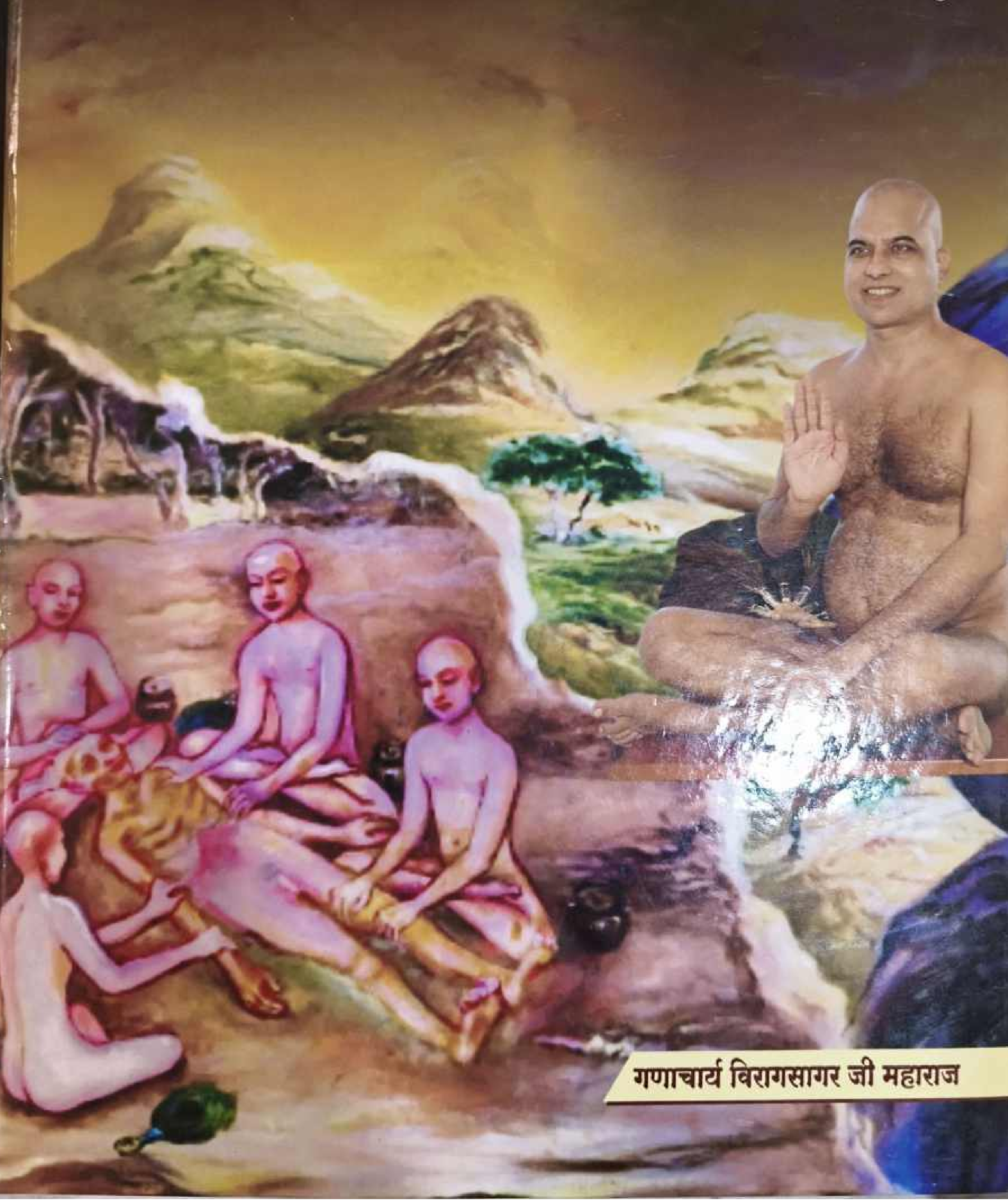

गणाचार्य विरागसागर जी महाराज

सल्लेखना से समाधि

✻ लेखक ✻

परम पूज्य गणाचार्य

श्री 108 विरागसागरजी महामुनिराज

✻ प्रकाशक ✻

श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन

विराग विद्या पीठ, भिण्ड (म.प्र.)

प्रसंग	:	विरागोदय पंचकल्याणक महामहोत्सव, यति सम्मेलन युग प्रतिक्रमण, पथरिया (दमोह) के शुभ अवसर पर
कृति	:	**सल्लेखना से समाधि**
लेखक	:	प.पू. गणाचार्य श्री 108 विरागसागर जी महाराज
संस्करण	:	2023
प्रतियाँ	:	1000
मूल्य	:	125/-
पुण्यार्जक	:	श्री रमेश चन्द्र जी लखमी चन्द्र श्रीमति कुसुम जैन सोनू जैन (ऐवत) श्री राजू पवैया - श्रीमति संगीता पवैया सिद्धार्थ, निहा, सिद्धा, मुन्यांश पवैया परिवार (भिंड) श्री सुभाष जैन, सौरभ जैन, अनीता जैन, शालनी जैन, जीविका जैन दवाई खाना (भिंड) श्री सचिन जैन, आगरा (उ.प्र.)
प्रकाशन	:	श्री सम्यग्ज्ञान दिगंबर जैन विराग विद्यापीठ भिण्ड (म.प्र.)
मुद्रक	:	पारस प्रकाशन, दिल्ली फोन : 9811374961, 9811363613

आद्यमित्यक्षर

प्रत्येक संसारी प्राणी की भव स्थिति आयु निश्चित है जब वह पूर्ण (क्षय) हो जाती है तब उसे नियम से मरना पड़ता है। चाहें वह किसी भी विधि से क्यों न हो। जो जन्मा है उसे नियम से मरना पड़ता है। चाहे राजा हो या रंक, बलवान हो या निर्बल, विद्वान हो या मूर्ख, बालक हो या वृद्ध, दीन हो या अमीर किन्तु मरना सभी को पड़ता है, मृत्यु ने किसी को नहीं छोड़ा। वह अतिथि है उसके आने की कोई तिथि नहीं है, वह समय का इंतजार नहीं करती। चाहे दिन हो या रात, वन हो या भवन, रास्ते पर हो या घर में, सोता या जाग्रत जब जिसका समय आया तत्क्षण ही उसका काम तमाम किया, यद्यपि वह अन्याय नहीं करती, उसके सामने आज तक किसी की नहीं चली, मात्र वीतरागप्रभु ही उसे जीत सके शेष सभी संसारी पर उसने अपना अधिकार जमाया है। बस इसी जन्म के साथ मरण और मरण के साथ जन्म की परम्परा का नाम संसार है और इस जन्म मरण की की परम्परा का सर्वथा विनाश हो जाना मुक्ति है। इसके लिये ही साधक अपनी साधना, आराधना, सल्लेखना और समाधि मरण को अनवरत करता है।

मरण उतना ही सत्य है जितना की जीवन सत्य है, किन्तु जीवन के मोह में फँसा हुआ प्राणी इस सत्य को भूल जाता है और फिर जिस किसी भी प्रकार से निरन्तर जीवित रहने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रयत्न के लिए वह सब कुछ न्यौछावर कर देता है फिर भी मृत्यु से बच नहीं पाता है उसे अवश्य ही एक दिन मरना ही पड़ता है, इस नियम को बड़े से बड़े मंत्र-तंत्र, देवी-देवता, राजा-महाराजा, वैद्य-हकीम आदि भी नहीं टाल सकते हैं। जब यह सत्य है तो मृत्यु से क्यों घबड़ाना। आखिर घबड़ाता कौन है? जिसके जीवन का हिसाब-किताब गड़बड़ है, अन्याय, अनीति और दुराचार से भरा पड़ा है, वह घबड़ाता है, उसी के लिये मृत्यु अशुभ है। किन्तु जिसका जीवन न्याय-नीति, सदाचार, पर उपकार, व्रत, नियम, संयम आदि से भरा पड़ा है, जिसने शरीर और आत्मा के अन्तर को समझ लिया है, वह कभी मृत्यु से घबड़ाता नहीं अपितु कमर कसकर मैदान में खड़ा होकर मृत्यु के लिये ही ललकारता है। क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु आत्मा की नहीं होती, मृत्यु एकमात्र शरीर की होती है, आत्मा तो स्थानान्तरित, देहान्तरित होती है, जैसे ही हम वस्त्र बदलते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जीव देहान्तरित होता है। वह भय, शोक, संक्लेश से रहित सावधानी से धर्म की प्राप्ति एवं रक्षार्थ देह का त्याग करता हैं, इसी का नाम सल्लेखना पूर्वक समाधि मरण है। मरण और समाधि मरण में

इतना ही अंतर है कि मरण तो प्राय:सभी संसारी प्राणी का होता है, किन्तु समाधि मरण एकमात्र सच्चे धर्म साधकों का होता है। अथवा यूँ समझें कि मृत्यु में विषयाशा, लोभ, तनाव, मोह, भय, संक्लेशता एवं कषायों की आकुलतामयी अहं भूमिका होती है, जबकि समाधिमरण में धर्म, प्रभुनाम, निर्भयता, निर्लोभता, विशुद्धता एवं शरीर के प्रति अनासक्तता की उत्तम भूमिका होती है तथा प्राण विसर्जन में सावधनता पूर्ण प्रक्रिया होती है–जैसा कि समन्तभद्राचार्य ने रत्न श्राव. में कहा है कि–

पञ्चनमस्कार मनास्तनुं त्यजेत् सर्वप्रयत्नेन॥128॥

अर्थात् अर्हंतादि पंचपरमेष्ठी रूप परमात्माओं का ध्यान करते हुए बड़े यत्न से सावधानी से, वीरता के साथ शरीर आदि प्राणों को छोड़ें।

धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोण्हि वि मरिदव्वं, वरं ही धीरत्तणेण मरिदव्वं॥

धीर (वीर) को भी मरना पड़ता है तथा अधीर (कायर) को भी मरना पड़ता है, जब दोनों को मरना ही पड़ता है तो धीरता (वीरता) के साथ मरना अच्छा है, पर मृत्यु के समय कहीं दुर्लभ आराधनाएँ न छूट जायें इसलिये साधक सल्लेखना व समाधि मरण का पूर्व से ही अभ्यास करता है तथा मृत्यु काल निकट आने पर आराधना की रक्षा करता हुआ समाधिमरण करता है।

प्रस्तुत आलेख में जो उपर्युक्त आराधना, सल्लेखना और समाधि का संक्षेप में आगमिक विवेचन किया गया है, इसमें जो कुछ है, सब पूर्वाचार्यों का है उनके द्वारा प्रतिपादित आगम ग्रंथों का है मेरा कुछ नहीं है, मात्र योग और उपयोग रूप क्रिया मेरी है।

यद्यपि जैनाचार्य श्री शिवकोटी (शिवार्य) ने भगवती आराधना में, टीकाकार अपराजित सूरी ने विजयोदया टीका में तथा आचार्य अमितगति ने मरणकंडिका में, आचार्य देवसेन ने आराधनासार में, आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में, सकल कीर्ति आचार्य ने समाधिमरणोत्साह दीपक में तथा मूलाचार प्रदीप आदि ग्रंथों में वर्णित विषय को सविस्तृत स्पष्ट रूप से समझाया है, उसे स्पष्ट करने की कोई भी किंचित् भी आवश्यकता नहीं थी फिर भी विभिन्न स्थानों पर हुई समाधियों के पुनीत अवसरों पर **'भगवती आराधना'** जैसे ग्रंथों की महती आवश्यकता पड़ती थी, किन्तु ग्रंथ की अनुपलब्धि या बृहद् काय से होने से तात्कालिक कठनाईयाँ महसूस होती है। अतः मेरे मन में कई बार इच्छा होती थी कि क्यों न समाधि विषयक सविधि संक्षिप्त आलेख तैयार

किया जाये। ताकि सल्लेखना साधकों व सहयोगियों को सल्लेखना के अवसर पर तद्विषयक यथोचित सामग्रियाँ एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जायें इसी पवित्र भावना से, प्रस्तुत आलेख साकार रूप ले सका।

यद्यपि जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, आर्यिका विशुद्धमति माताजी के द्वारा प्रस्तुत समाधि दीपक आदि पुस्तकों का भी अवलोकन किया, सभी में पर्याप्त सामग्री थी फिर भी पर्याप्त संतुष्टि नहीं हो पा रही थी। भिण्ड में मुनि श्री विग्रह सागरजी की आध्यात्मिक भावों से ओतप्रोत तथा आगमिक विधि से सप्त दिवसीय सल्लेखना के अवसर पर उन्हें संबोधनार्थ कुछ सामग्री का संचय किया था, किन्तु बाद में उसे ज्यों का त्यों रख दिया था। शाश्वत तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी में मुनि श्री विश्वधैर्यसागरजी की सल्लेखना समाधि के अवसर पर उक्त आलेख की पुनः आवश्यकता पड़ी, तभी से समुचित श्रम कर आलेखन शुरु हुआ। इस आलेख में इस बात का पूर्णतः ध्यान रखा गया है कि आगम के प्रत्येक वाक्यों को ज्यों का त्यों दिया जाये फिर विस्तार के भय से कहीं-कहीं आवश्यक संदर्भों का सारांश के रूप में भी दिया गया है। वर्तमान संघों में प्रचलित विशेष विधि को भी यथावसर समाहित किया गया है। यद्यपि यह आलेख तैयार करने में पूर्णतः सावधानी रखी गई है तथापि मेरे द्वारा अज्ञान, प्रमाद आदि से कहीं भी किसी भी प्रकार से त्रुटि रह गई हो तो साधुजन उसे अवगत करायें ताकि, उनका सम्यक् परिमार्जन कर सके। इस आलेख में मुनिश्री विभवसागरजी का आर्यिका विशिष्ट श्री माताजी, विदुषी श्री माताजी व विभूति श्री माताजी का प्रेस कॉपी तैयार करने में प्रशंसनीय सहयोग रहा। भविष्य में भी इस प्रकार से श्रुत सेवा करते रहें ऐसा आशीर्वाद है।

गुरुणांगुरु
आचार्य महावीर कीर्ति जी
39 वीं पुण्यतिथि

ॐ नमः सिद्धेभ्यः
आचार्य विरागसागर
6/11/2527

विषयानुक्रमणिका

आद्यमित्यक्षर 3

विषयानुक्रमणिका 6

प्रस्तावना 8

प्रथम प्रकाशकीय 17

परम पूज्य गणाचार्य 108 श्री विरागसागरजी महाराज की महत्त्वपूर्ण जीवन झांकियाँ 18

मंगलाचरण 21

आराधना 21

व्यवहार आराधना 24

समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश 34

सल्लेखना 34

1. अर्ह अधिकार 57
2. लिंग अधिकार 57
3. शिक्षा अधिकार 60
4. विनय अधिकार 61
5. समाधि अधिकार 64
6. अनियत विहार अधिकार 65
7. परिणाम अधिकार 67
8. उपधि (परिग्रह) त्याग अधिकार 67
9. श्रिति अधिकार 71
10. भावना अधिकार 71
11. सल्लेखना अधिकार 77
12. दिशि (दिशा) अधिकार 77
13. क्षमणा (क्षमा) अधिकार 78
14. अनुशिष्टि (अनुशासन) अधिकार 78
15. परगण चर्या अधिकार 84
16. मार्गण अधिकार 84
17. सुस्थित अधिकार 88
18. उपसंपद अधिका 100
19. परीक्षा अधिकार 101
20. निरूपणा (प्रतिलेखना) अधिकार 102

21. अपृच्छा (पृच्छा) अधिकार 102
22. एक संग्रह अधिकार 103
23. आलोचना अधिकार 103
24. गुणदोष अधिकार 107
25. शय्या (वसतिका) अधिकार 114
26. संस्तर अधिकार 115
27. निर्यापक अधिकार 124
28. प्रकाशन अधिकार 127
29. हानि अधिकार 127
30. प्रत्याख्यान अधिकार 128
31. क्षामण अधिकार 129
32. क्षपणा अधिकार 130
33. अनुशिष्टि (शिक्षण) अधिकार 130
34. सारणा अधिकार 134
35. कवच अधिकार 136
36. समता (समभाव) अधिकार 141
37. ध्यान अधिकार 142
38. लेश्या अधिकार 149
39. फलाधिकार 150
40. विज़हणा (शरीर त्याग) अधिकार 154
समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश 164
''उपसंहार'' 165
संदर्भित ग्रंथ सूची 169
समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश 172
समाधि मरण आत्महत्या नहीं मरण की सम्यक् विधि है 173
सल्लेखना आत्महत्या नहीं है प.पू. गणाचार्यश्री विरागसागर जी महामुनिराज 179
विभिन्न जैनागम ग्रन्थों से प्राप्त सल्लेखना के दृष्टांत 187
पूज्य गुरूदेव द्वारा सम्पन्न समाधि-सल्लेखनाएँ 196
दया मृत्यु एवं संथारा प्रथा का वैज्ञानिक आधार 201
प.पू. गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी महाराज द्वारा प्रकाशित
प्रवचन सत् साहित्य 207

प्रस्तावना

डॉ. शेखरचंद जैन

(दि. 25 दिसम्बर को श्री सम्मेद शिखर जी में पूज्य आचार्य विरागसागर जी के सान्निध्य में आयोजित गोष्ठी में पढ़ी गयी ''आचार्य श्री की अमूल्यकृति''

''**सल्लेखना से समाधि**'' की प्रस्तावना में प्रस्तुति)

सामान्यतः संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है-सुख से जीना चाहता है। मृत्यु से यह मनुष्य ही क्या पूरा प्राणी जगत भयभीत बना रहा। कितना विचित्र है-जिस जीवन को हम जी रहे हैं वह सत्याभास है और मृत्यु चिरंतन सत्य, पर हम आभास को सत्य मानकर चिरंतन के प्रति आंख-मिचौली खेल रहे हैं। सत्य को झुठलाने का उपक्रम कर रहे हैं। मृत्यु के सत्य से स्वयं को धोखे में रख रहे हैं। संसार में लिप्त और संसार से अलिप्त व्यक्ति में मूल अंतर ही यह है कि एक नश्वर जीवन जिसकी परणति मृत्यु है उसके प्रति आसक्त रहकर आत्मा को भूल जाता है जबकि दूसरा मृत्यु के सत्य को समझकर उसकी परवाह किए बिना आत्मा को परमात्मा बनाने की यात्रा में आगे बढ़ता रहता है।

भारतीय मनीषा एवं संस्कृति में गर्भाधान से मृत्यु तक के जो सोलह संस्कार माने गये है उनमें 'मृत्यु' को भी संस्कार माना है। जन्म के आनन्द की भाँति मृत्यु को भी आनन्द स्वरूपा ही माना है। उसे वर्तमान जीवन का यदि अन्त माना है तो आने वाले जीवन का वह प्रथम चरण भी है। कालांतर में यह 'निर्मोह' भाव कम होते गये और मृत्यु के प्रति कथित विद्वान या पंडितवर्ग ने एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जो भयावह, घिनौना एवं कष्टदायक रहा। मृत्यु की कल्पना ही दुःखद और डरावनी हो गई। अच्छा भला आदमी भी मृत्यु भय की शंका से अधमरा-व्याकुल रहने लगा। दूसरे शब्दों में कहें तो मृत्यु भय का पर्यायवाची बन गया। सबल निर्वल को मार डालने की धमकी देने लगा। भौतिक सुखों की लालसा से व्यक्ति परस्वहरण ही नहीं दूसरों को मृत्यु का भय बताने लगा और मारने भी लगा। चोर-लुटेरे मृत्यु का डर बताकर अनिष्ट करने लगे। सत्य के लिए लड़ने वाले भी मृत्यु के डर से ध्येय से लौटने लगे। अरे! इस मूर्खता को छोड़िए..... धर्म के ठेकेदार पंडित मनुष्य को मृत्यु का डर बताकर उससे बचने के उपाय सुझाकर धन ऐंठने लगे। भोले लोग यह कहाँ समझते है कि मृत्यु का समय पंडितों के जप-तप की लालच से नहीं टल सकता। हाँ मृत्यु! ठगों के लिए भरण पोषण का साधन

बन गई। इन सबको यों कहे कि पुद्गल पर्यायी पंचतत्त्व के हाड-माँस के शरीर के प्रति हमारे मोह ने हमें मृत्यु से भयभीत बनाया। डर के जीना सिखाया। कर्तव्य से च्युत किया। परंतु, जो सत्य को समझ सका-मृत्यु को जीवन का ही स्वाभाविक पटाक्षेप मान सका वह निर्भय बना। उसे कोई पंडा-पंडित भयभीत नहीं बना सका। शहादत उनके चरण चूमती रही। मृत्यु उनके सामने हाथ जोड़ कर खड़ी रही। संसार की समस्त खोजों और उपलब्धियों का श्रेय वे ही प्राप्त कर सके जिन्हें मृत्यु से डर नहीं था। जो प्राण हथेली पर रखकर सिर पर कफन बाँध के निकल पड़े-सिद्धियों ने उनके कदम चूमे। देह से मरने के बाद भी वे अमर हो गये। मृत्यु के इसी भय से भयभीत-पर, उसके भय को दूर करने के लिए सिद्धार्थ ने घर छोड़ा और बुद्धत्व प्राप्त किया। पार्श्वनाथ-महावीर आदि महापुरूषों की तपस्या के मूल में निर्भीकता और मृत्यु के प्रति उपेक्षा ही थी। गाँधी इस युग का ऐसा ही मृत्युंजयी युग पुरुष रहा। आजादी के दीवाने शहीद उसी कोटि के थे।

जब हम प्राचीन ग्रंथों को पढ़ते हैं तो उसमें स्वैच्छिक मृत्युवरण के उल्लेख मिलते हैं। यह स्वैच्छिक मृत्युवरण ही वास्तव में मृत्यु महोत्सव या मृत्यु पर विजय प्राप्ति है। परंतु, सावधान इस बात से रहना है कि उसमें कहीं आत्महत्या या आत्मदाह को शामिल न कर लें।

मैंने मृत्यु के साथ महोत्सव शब्द का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से मृत्यु दु:खद या परेशान करने वाला तत्त्व रह ही नहीं जाता। जहाँ उत्सव है वहाँ आनन्द है-प्रसन्नता है। अत: सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है मन की प्रसन्नता। हम मृत्यु के इस प्रसन्न तत्त्व पर विचार करें तो इससे पूर्व संक्षिप्त में मृत्यु के विविध स्वरूपों को भी जान लें। मृत्यु के इस स्वयं आह्वान के साथ अन्य दो स्वरूप भी है। 1. आत्महत्या, 2. बीमारी आदि के कारण मृत्यु।

आत्महत्या यद्यपि मृत्यु का स्वयं स्वीकार है परन्तु उसमें प्रसन्नता नहीं होती अपितु क्रोध, भय या मानसिक विकृति ही होती है। जब कमजोर दिल का आदमी अपने अनुकूल परिस्थितियाँ या वातावरण नहीं पाता। तब उसमें निराशा-कुंठा, भय और क्रोध की दुभावनाएँ पनपती हैं। वे विकसित होती हैं। मनुष्य इतना मानसिक त्रस्त, परेशान हो जाता है कि उसे मार्ग ही नहीं सूझता। उसकी निर्णय शक्ति क्षीण होने लगती है। उसे जीवन भार सा लगने लगता है। संसार के संघर्षों से जूझने की उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। उसे लगता है कि इस जीवन से तो मर जाना अच्छा । बस! इस विचार का आक्रमण होते ही वह चेतना से रिक्त होने लगता और मृत्यु को चाहने लगता है-आत्महत्या करता है। कभी-कभी सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ उठता तो है पर टिक नहीं पाता और मात्र बदनामी के डर से भी आत्महत्या का मार्ग अपनाता

है। इसी प्रकार किसी गवन आदि के दुष्कर्म के प्रतिकार से शक्तिहीन होने के कारण मर जाना पसंद करता है। इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण कारण उसके कषाय भावों में क्रोध की तीव्रता होती है। क्रोध कषायों में सबसे भयंकर कषाय है। मनुष्य अपनी बुद्धि-विवेक सब कुछ भूल जाता है। उसमें मानसिक दुर्बलता पराकाष्ठा पर होती है। अन्य का भी अहित करना उसका एकमात्र ध्येय बन जाता है। क्रोध की तीव्रता से शारीरिक प्रक्रियाओं के कारण उसे हृदय रोग का शिकार बनना पड़ता है या वह दूसरों की हत्या करता है और स्वयं भी ऐसे रौद्र ध्यान में मर जाता है। ऐसा क्रोध व्यक्ति, समाज, राष्ट्र किसी के भी प्रति हो सकता है। स्वभावत: ऐसी मृत्यु बड़ी करुण और भयावह तथा कष्टप्रद होती है।

हम जिस मृत्यु की चर्चा करना चाहते हैं उसे समस्त ज्ञान, समझ और सद्भावना तथा धर्म ध्यान में किया गया आह्वान है। जिसे सल्लेखना कहा गया है। यही अन्य धर्मों या सम्प्रदायों में इच्छा मृत्यु है। ऐसी मृत्यु अब जैन धर्म में ही देखने को रह गई है। कई लोग ना समझी से इसे आत्महत्या कह देते हैं। पर, वास्तव में वे लोग इसके मर्म को ही नहीं समझते और न इसके भेद को। आत्महत्या के कारण मैं आपको ऊपर बता चुका हूँ। दोनों के मूल भेद में राग-द्वेष की तीव्रता एवं मंदता है। एक में क्रोध-भय प्रमुख है तो दूसरे में परितोष, समझ विराग एवं ममत्व का परित्याग है। एक में आर्त-रौद्र भाव है तो दूसरे में शुभ परिणति एवं शुक्ल ध्यान है। एक में अभाव की वेदना है तो दूसरे में परितृप्ति का सन्तोष है। आचार्यों ने इस सल्लेखना की विविध व्याख्यायें ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन अर्थात् कृष करना सल्लेखना कहा है। बाहरी शरीर का और भीतरी शरीर का और भीतरी कषाय का, उत्तरोत्तर काय और कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से कृश करना सल्लेखना है। इसकी आवश्यकता के संदर्भ में कहा गया है-"अतिवृद्ध या असाध्य रोगग्रस्त हो जाने पर, अथवा अप्रतिकार्य उपसर्ग आ पड़ने पर अथवा दुर्भिक्ष आदि के आने पर साधक साम्यभाव पूर्वक अन्तरंग कषायों का सम्यक् प्रकार दमन करते हुए, भोजन आदि का त्याग करके, धीरे-धीरे शरीर को कृश करते हुए इसका त्याग कर देते हैं। सम्यग्दृष्टि जनों को यथार्थता सम्भव होने से इसे पंडित मरण कहते हैं।"

भगवती आराधना में इसे सल्लेखना के दो भेद माने हैं एक अभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। अभ्यन्तर सल्लेखना कषायों में होती है और बाह्य शरीर में। यहाँ मात्र शरीर को क्षीण नहीं करना है पर, साथ ही साथ अन्तर के कषायों की क्षीणता पर जोर दिया है। अन्तर कषायों की क्षीणता ही मृत्यु को आनन्दमय बनाती है। पंचास्तिकाय में इसे ही समझाते हुए कहा है- "आत्म संस्कार

के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादि कषाय रहित अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों का कृश करना भाव सल्लेखना है और उस भाव सल्लेखना के लिए कायक्लेशरुप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य करना द्रव्य सल्लेखना है।''

शरीर को कृश करने के भी उपायों का विशद वर्णन है। पर संक्षेप में कहें तो..... साधक सबसे पहले इस पुद्गल शरीर के प्रति ममत्व रहित होने लगता है। वह भूख पर संयम की महत्त्वपूर्ण लगाम लगाता है। धीरे-धीरे शरीर की एषणा-भूख पर संयम कम करता है। यह अन्न आदि की कमी में उसकी संयम की भावना ही कारणभूत होती है और पोषक भी होती है। भूख पर संयम सबसे कठिन संयम है। यदि हमें एक दिन भोजन न मिले तो क्रोध-कषाय भाव जन्मते हैं, चोरी की भावना, छीन लेने की वृत्ति जन्मती है। भीख की हीनग्रंथी उत्पन्न होती है। अरे! कूड़े-कर्कट से भी बीनकर खाने पर आमदा हो जाते हैं। पर, अन्न होते हुए भी उसके प्रति स्वाद ममत्व छोड़कर भूख पर विजय प्राप्ति के प्रयास ही सल्लेखना के केन्द्र में होने से साधक क्रम से अनशनादि तप को बढ़ाते हुए देह को कृश कर शरीर में सल्लेखना करते हैं। प्रतिदिन लिए गये नियम के अनुसार कभी उपवास कभी वृत्ति परिसंख्यान, इसी क्रम से तपश्चरण कर क्षपक अपना शरीर कृश करता है नाना प्रकार के रसवर्जित, अल्प, रुक्ष ऐसे आचाम्ल भोजनों से अपने सामर्थ्य के अनुसार क्षपकमुनि देह को कृश करता है। नाना प्रकार के उग्र नियम ले-ले कर संयम की विराधना न करता हुआ स्वशक्ति अनुसार शरीर को कृश करता है।

इस उल्लेख से भी स्पष्ट होता है कि सल्लेखना में स्वयं शक्ति एवं आत्मप्रेरणा से ही सल्लेखना व्रत लिया जाता है। सल्लेखना बलपूर्वक नहीं कराई जाती किन्तु प्रीति के रहने पर स्वयं ही सल्लेखना करता है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सल्लेखना में 'बल' का काम नहीं अन्यथा यह हत्या हो जायेगी। जैनदर्शन तो स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म की ओर बढ़ता है। इसीलिए उसमें उल्लेख है कि संयम के विनाश के भय से श्वासोच्छ्वास का निरोध करने वाले की सल्लेखना नहीं होती यहाँ पर श्वास रोककर मरने में 'भय' मूल में हैं अतः यह भी आत्महत्या ही है। लौकिक रूप से हम उसकी सराहना कर सकते हैं पर यह सल्लेखना मुत्यु की भांति और निर्भयता के अन्तर्गत नहीं आ सकती। इसीलिए बाह्य 'सल्लेखना' से अधिक आन्तरिक सल्लेखना की महत्ता मानी है क्योंकि अन्तर सधने से बाह्य सधती जायेगी। इसी तथ्य को निरुपित करते हुए कहा है- ''अनेकविध'' शरीर सल्लेखना विधि को करते हुए भी क्षपक एक क्षण भी में परिणामों की विशुद्धि को न छोड़े। कषाय से कलुषित मन में परिणामों की विशुद्धि नहीं

होती और परिणामों की विशुद्धि ही कषाय सल्लेखना कही गई है। परिणामों की विशुद्धि के बिना किया जाने वाला तप भी दिखावा है। जो साधु शरीर की सल्लेखना को निरतिचार करे परन्तु, अन्तरंग में राग-द्वेषादि रूप भाव परिग्रह निवास करता है। उसके परिणामों की संक्लेशता के कारण संसार भ्रमण नहीं छूटता।''

जैनदर्शन में लेश्या एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक भाव है। वृत्ति के अनुसार उनका शरीर-चेहरे पर प्रभाव होता है। इनमें शुक्ल श्रेष्ठ लेश्या है। अर्थात् अन्तर-बाह्य कषायों को क्षीणकर, ममत्व रहित, उत्कृष्ट भावों को भाते हुए परिणामों की शुद्धता से सल्लेखना द्वारा शरीर त्यागने वाला उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या युक्त होता हैं इसी क्रम में शुभ दो अन्य लेश्याओं की परणति है। अशुद्ध लेश्या तो दुःख कषाय की प्रतीक है जो आत्महत्या की ही प्रतिक्रिया की द्योतक हैं।

सामान्यतया यह माना जाता है कि सल्लेखना साधु ही धारण करते हैं पर ऐसा नहीं। संयमी गृहस्थ भी उसे धारण कर सकता है। राजवर्तिक में इसके प्रमाण हैं। गृहस्थ व साधु दोनों ही भक्त प्रत्याख्यान के योग्य समझे जाते हैं। गृहस्थ भी व्रत और शीलों की रक्षा करने के लिए सल्लेखना धारण करते हैं। श्रावक प्रीतिपूर्वक मरणान्तिकी सल्लेखना धारण करता है। ''मैं मरणकाल में अवश्य समाधि मरण करुँगा।'' श्रावक को ऐसी भावना भानी चाहिए।

सल्लेखना के योग्य समय व अवसर : इसके लिए चातुर्मास से हेमन्तऋतु उत्तम समय माना गया है। तथा जब महाप्रयत्न से चिकित्सा दुरुत्तर होने पर, श्रामण्य की हानि करने वाली अतिशय वृद्धावस्था होने पर, निःप्रतिकार देव, मनुष्य व तिर्यंचकृत उपसर्ग आ पड़ने पर, लोभ आदि के वशीभूत शत्रु जब चारित्र का नाश करने को उद्यत हों, भयंकर अकाल पड़ने पर, हिंसक पशुओं से पूर्ण भयानक वन में दिशा भूल जाने पर, आंख, कान व जंघा बल अत्यंत क्षीण हो जाने पर गृहस्थ व मुनि सल्लेखना के योग्य माने गये हैं। ऐसे ही उल्लेख रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भगवती आराधना, राजवर्तिक आदि ग्रंथों में है। कहा है- जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीरबल की हानि तथा षडावश्यक का नाश होने पर सल्लेखना होती है। कहा गया है-स्वकाल पाक द्वारा अथवा उपसर्ग द्वारा निश्चित रूप से आयु का क्षय सन्मुख होने पर यथा विधि रूप से संन्यासमरण धारकर सकल क्रियाओं को सफल करना चाहिए। असाध्य देहादि विकारों के होने पर आयु का क्षय निश्चित हो जाने पर निश्चित आराधना चिन्तवन में मग्न होना चाहिए।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दुर्भिक्ष रोग आदि का भय न होने पर भी साधु यह सोचकर कि इन भयानक परिस्थितियों में कदाचित् मैं सल्लेखना ना कर सकूँ- ऐसा सोचने वाला साधु

भी सल्लेखना के योग्य माना गया है। वैसे ऐसे गृहस्थ या साधु को सल्लेखना नहीं लेनी चाहिए।

गृहस्थ का यदि अन्तिम समय आ जाये और उस समय भी यदि नियम से सल्लेखना धारण कर लें तो भी वह साधक कोटि का है। कारण कि नियमबद्ध होते ही वह कषाय मोह विकारों से मुक्त होने लगता हैं। फिर आसन्न मृत्यु का भय नहीं लगता। जैनाचार्यों ने तो लिखा है कि कोई जीवन में यदि सल्लेखना के योग्य अवसर या परिस्थितियों में उसे धारण करें या न कर सके तो भी यदि वह अन्तिम समय उसे धारण करता है तो भी उसे उसका शुभ परिणाम प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए जैसे किसी अंधे को स्तम्भ से टकरानें पर नेत्र खुलने का दृष्टि प्राप्ति का निमित्त भाग्यवश मिल जाये वैसे ही अंत समय में भी शरीर- का मोह कषायों से मुक्ति के भाव जाग जायें तो रत्नत्रय निधि रूपी आंख मिल जाती है।

सागार धर्मामृत में कहा है- ''चिरकाल से आराधन किया हुआ धर्म यदि मरने के समय छोड़ दिया जाय या उसकी विराधना की जाय तो वह निष्फल हो जाता है। और यदि मरने के समय उस धर्म की आराधना की जाये तो वह तो वह चिरकाल के उपार्जित पापों को भी नाश कर देता है।''

यद्यपि अंतिम काल की आराधना का महत्त्व है पर एकाएक अंतिम समय लिए गये व्रत की साधना कठिन पड़ती है। यह सिद्धि अकस्मात् मिल जाये वह दूसरी बात है- अन्यथा बड़ी कठिनाई होती है। अत: भेदविज्ञान दृष्टि के पनपते ही व्यक्ति को क्रमशः पूरे जीवनभर इसका अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् संयम, कषाओं की मंदता, भोजन पर संयम, देह की क्षीणता आदि का अभ्यास करते रहने से अंतिम समय काय क्लेश या मानसिक क्लेश नहीं होता। यह क्लेश मुक्ति ही **'मरण का सौन्दर्य'** प्राप्त कराने वाले तत्त्व है। साधु और निर्मोही गृहस्थ क्रमशः संयम में आरुढ़ होकर उत्तरोत्तर उसे दृढ़ करते हैं। ऐसा साधक सोचता है कि यह एक सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने में समर्थ है। इस प्रकार भक्ति करके मरणांत सल्लेखना को निरंतर भावना चाहिए। मैं मरण काल में अवश्य ही शास्त्रोक्तविधि से समाधि मरण करूँगा, इस प्रकार भावनारूप परिणति करके मरणकाल प्राप्त होने से पहले ही सल्लेखना व्रतपालन करना चाहिए। इस प्रकार निरंतर अभ्यास और अन्त समय लिये हुये व्रत दोनों का उत्तम परिणाम तो मिलता ही है। यदि साधना काल में जीवन में कोई विराधना हो गई हो तो भी मरण काल में रत्नत्रय में परिणति करनी चाहिये। इस अंतिम समय में भी यह आराधना कर्म का संवर व निर्जरा कराती है।

सल्लेखना के फलों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऐसा मरण प्राप्त करने वाला स्वर्गों के सुख भोगकर वहाँ से चय कर मनुष्य भव में जन्म धारण कर सम्पूर्ण ऋद्धियों को प्राप्त करता है। वे ही जिनधर्म अर्थात् मुनि पद के योग्य बनते हैं। शुक्ल लेश्या की प्राप्ति कर कर्मरूपी कवच को फोड़कर शुक्ल ध्यान में संसार से मुक्त हो जाते हैं। जिसने-धर्मरूपी अमृत पिया है ऐसा इन सल्लेखना धारी जीव समस्त प्रकार के दु:खों से रहित होता हुआ, अपार दुस्तर और उत्कृष्ट उदयवाले मोक्षरूपी सुख के समुद्र का पान करता है। गृहस्थ भी धर्म का पालन करते हुए समाधिमरण प्राप्त करे तो उसे देव पर्याय प्राप्त होती है और वहाँ से चयकर मनुष्य भव में संयम धारण कर मुक्ति पाता है।

समाधिमरण धारण करनेवाला जीव अनेक भवों को धारण करने के कष्ट से बचकर सात-आठ भव में ही मुक्ति पा लेता है।

सल्लेखना मरण की विधि भेद : पंडित मरण के भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन तीन भेद हैं। इनमें भक्तप्रत्याख्यान के सविचार और अविचार दो भेद हैं। अविचार तीन प्रकार का हैं-निरुद्ध-निरुद्धतर-परमनिरुद्ध। भगवती आराधना में अथालन्दविधि, भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी मरण, परिहारविशुद्धिचारित्र, पादोपगमनमरण और जिनकल्याणावस्था प्रकार कहे हैं। साधु को अपनी अवस्था के अनुसार रत्नत्रय धारण कर समाधिमरण करना चाहिए। धवला में भक्त प्रत्याख्यान को समझाते हुए कहा है कि भोजन का क्रमिक त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों समान हैं। अन्तर है शरीर के प्रति उपेक्षा भाव में। यहाँ अपने और पर के उपकार की अपेक्षा रहित समाधिमरण को प्रायोगमन कहते हैं। जिस संन्यास में अपने द्वारा किए गये उपकार की अपेक्षा रहती है किंतु दूसरे के द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती उसे इंगिनी समाधि कहते हैं। जिस संन्यास में अपने और दूसरे दोनों के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्त प्रत्याख्यान संन्यास कहते हैं।

पादोपगमन मरण अर्थात् अपने पांव के द्वारा संघ से निकलकर योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है यहाँ भावार्थ लें तो भव का अन्त करने योग्य ऐसे संस्थान और संहनन को प्रायोग्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति होना प्रायोपगमन है। भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शब्द का अर्थ त्याग होता है। अर्थात् आहार का त्याग करके मरण करना वह भक्त प्रत्याख्यान है। स्व अभिप्राय कों इंगित कहते हैं। अपने अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुये जो मरण होता है उसी को इंगिनी मरण कहते हैं। इस काल में भक्त प्रत्याख्यान मरण ही

उपयुक्त है। शेष दो योग्य संहनन के अभाव में नहीं होते। इंगिनी मरण (प्रायोपगमन मरण) के धारक मुनि वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच आदि संहननों में किसी एक के धारक होते हैं। भक्त प्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल प्रमाण बारह वर्ष माना है। जघन्य अन्तर मुहूर्त व मध्यम इनके बीच का।

सल्लेखना व्रत में धारणा : प्रत्याख्यान या समाधिमरण धारण करने वाला प्रतिज्ञा करता है कि वह सर्वप्रथम हिंसादि पंच पापों का त्याग करे। सब जीवों के प्रति समता भाव धारण करे। सर्व आकांक्षाओं का त्याग कर समाधिमरण स्वीकार करे। वह प्रतिज्ञा करे कि- मैं सब अन्न पान आदि आहार की अवधि को, आहार संज्ञा को, सम्पूर्ण आशाओं का, कषायों का और सर्वपदार्थों में ममत्व भाव का त्याग करता हूँ। सल्लेखना धारी शीत-उष्ण में हर्ष-विषाद न करे। स्नेह, वैर, परिग्रह छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुंबियों और चाकरों से क्षमा कराके और आप भी सबको क्षमा करें। छलकपट रहित और कृत-कारित अनुमोदना सहित किए हुए समस्त पापों की आलोचना करके मरण पर्यंत रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करें। शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता, और अरति को त्याग करके अपने बल और उत्साह को प्रकट करके संसार के दुःख रूपी संताप को दूर करने वाले अमृतरूप शास्त्रों का श्रवण करें। क्रम-क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध व छाछ को बढ़ावे और पीछे दुग्धादिक को छोड़कर कांजी और गरम जल को बढ़ावे। तत्पश्चात् उष्ण जल का भी त्याग करके शक्त्यानुसार उपवास करके पंचनमस्कार मंत्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़े।

श्रावक के समाधिमरण के संदर्भ में वसुनंदी श्रावकाचार में उल्लेख है कि-रागद्वेष का त्याग, समता धारण और परिजनों से क्षमा आदि के पश्चात् वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर अवशिष्ट सभी परिग्रह त्यागकर अपने ही घर अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप में मन-वचन-काय से अपने भले प्रकार आलोचना करके पानी के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है उसके सल्लेखना नामक व्रत होता हैं।

(समता-क्षमाभाव-आलोचना की महत्ता की चर्चा करना)

साधक को बारह भावनाओं को भाना चाहिए। भव-भव की भटकन उसके जन्म-मरण के दुःखों का चिन्तवन करना चाहिए। साधक को मौन धारण करना चाहिए। गुरु आचार्य के साथ बोले, विवेकी सम्यग्दृष्टि के साथ आवश्यक थोड़ा बोले पर मिथ्यादृष्टि आदि के साथ बिल्कुल मौन रहे।

बारह वर्ष कैसे बिताए : प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकार के काय- क्लेशों द्वारा बिताये। आगे के चार वर्षों में दूध-दही, घी-गुड़, आदि रसों का त्याग करके शरीर कृष करे। दो वर्ष तक आचाम्ल व निर्विकृति भोजन ग्रहण करता रहे। एक वर्ष मात्र आचाम्ल भोजन ग्रहण करे। छह महिनों तक मध्यम तपों द्वारा शरीर को क्षीण करे और अन्त के छह महिने उत्कृष्ट तप द्वारा शरीर को क्षीण करे।

उत्तम आहार देखकर भी उसके प्रति आशक्त न बने। अन्न से ममत्व त्याग के ही मुख्य भाव हो। आत्म चिन्तवन की प्रधानता हो। कितनी भी क्षीण अवस्था हो पर कभी मन में क्लेश न व्यापे।

इस प्रकार जो मृत्यु का वरण करते हैं उनकी मृत्यु महोत्सव में बदल जाती है।

प्रथम प्रकाशकीय

'सल्लेखना से समाधि' आराधना सिद्धि की महत्त्वपूर्ण विधि है, आराधना साधक की निज निधि है जिसे वह चिंतामणि रत्न की तरह अत्यंत दुर्लभ ही नहीं अपितु समग्र भवों के उपार्जित पुण्य का ही फल मानता है तथा पूर्ण विवेक एवं साधना से उसकी रक्षा और वृद्धि का निरन्तर प्रयास करता है। कदाचित् अन्य समय में यदि आराधना छूट भी जाती है तो भी मृत्यु के समय तक उसे पाने के अवसर संभव रहते हैं पर मृत्यु के समय छूटने पर उसे पाने का अन्य अवसर ही नहीं रहता है। अतः सच्चे साधक इस बात का पूर्णतः ध्यान रखतें है और मृत्यु बेला में पूर्णतः सजग रहते हैं इसी का नाम सल्लेखना परक समाधि है।

परम पूज्य आचार्य श्री ने आगम का गहन अध्ययन कर सुगम और सरल रीति से इसे लिखकर **''सल्लेखना से समाधि''** नाम दिया है, निश्चित ही उनका सह सत् प्रयास सराहनीय ही नहीं किन्तु स्तुत्य है। पूज्य आचार्य श्री सरलता व सहजता की प्रतिमूर्ति हैं, आप आगम के रहस्य वेत्ता हैं आपके सानिध्य में अध्यात्म व चरणानुयोग तथा षट्खण्डागम। धवलाजी की 16 वाचना एवं विद्वत गोष्ठियाँ हुई जिसमें लगभग जैन समाज के 200 विद्वानों ने भाग लिया है। आपके वरदहस्त तले अनेक भव्यों ने दीक्षा ले मोक्षमार्ग में अग्रणीय हुए हैं व हो रहे हैं। आप कठोर अनुशासक है साथ ही वात्सल्यमूर्ति हैं। आप परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागरजी के अत्यंत प्रिय शिष्य हैं। आपके लिए आचार्य श्री विभिन्न विशेषणों द्वारा सम्बोधित किया करते हैं यथा वीतरागी मुनि, निस्पृही संत, आदरणीय आदि उनके पत्रों में से उनके द्वारा प्रेषित एक अंतिम पत्र है जिसमें गुरु का शिष्य पर वात्सल्य सागर बरस रहा है देखिये–

ऐसे प्रतिभा पुंज परमपूज्य आचार्य श्री विरागसागरजी के गहन ज्ञान का ही प्रतिफल ''सल्लेखना से समाधि'' कृति है जो अवश्य ही जनमानस के अज्ञान अंधकार को दूर कर सम्यक् आलोक प्रदान करेगी। हम सभी उनके हार्दिक आभारी है जिन्होंने आगम मंथन कर हमें मक्खन प्रदान किया है।

साथ ही इस महत कार्य में सहयोग किया है पूज्य आर्यिका विशिष्ट श्री माताजी, पू. आर्यिका विदुषी श्री माताजी, पू. आर्यिका विभूति श्री माताजी ने एवं ब्र. अनिल भैया तथा विमलजी सेठी ने, साथ ही इस कृति का प्रकाशन हम श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ परिवार इन सवका हार्दिक आभार व्यक्त करते हुए भावना रखते हैं कि भविष्य में भी आप सभी का हमें इसी प्रकार का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

–वीरेन्द्र कुमार जैन
अध्यक्ष श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन,
विराग विद्यापीठ भिण्ड (म.प्र.)

परम पूज्य गणचार्य 108 श्री विरागसागरजी महाराज की महत्त्वपूर्ण जीवन झांकियाँ

पूर्व नाम : अरविन्द जैन (टिन्नू)

पिता का नाम : श्रीमान् कपूरचंद जी जैन (समाधिस्थ मुनि विश्ववंद्य सागर जी)

माता का नाम : श्रीमती श्यामा देवी जैन (समाधिस्थ आर्यिका विशांत श्री माता जी)

जन्म : 2 मई, 1963, गुरूवार, पथरिया (म.प्र.), वैशाख सुदी 9 वि.सं. 2020

भाई-वहिन : 3 भाई–श्री विजय कुमार, श्री सुरेन्द्र कुमार, बा ब्र. श्री नरेन्द्र भैया
2 वहनें–श्रीमती मीना जैन, श्रीमती विमला जैन

लौकिक शिक्षा : शासकीय प्राथमिकता शाला, पथरिया, कक्षा-पाँचवी इण्टर (उत्तर मध्यमा), श्री शांति निकेतन दिगम्बर जैन विद्यालय, कटनी

क्षुल्लक दीक्षा : 20.02.1980 बुधवार (बुढ़ार, शहडोल म.प्र.) (फाल्गुन शुक्ला-5), विक्रम् संवत् 2036

क्षुल्लक दीक्षा गुरु : परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्य श्री 108 सन्मति सागर जी महाराज

क्षुल्लक दीक्षा नाम: पूज्य क्षुल्लक श्री 105 पूर्ण सागर जी

मुनि दीक्षा : 09.12.1983 शुक्रवार औरंगाबाद (मगसिर सुदी 5 विक्रम् संवत् 2040)

मुनि दीक्षा गुरु : परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज

मुनि दीक्षा नाम : परम पूज्य मुनि श्री 108 विराग सागर जी महाराज

आचार्य पद : 8.11.92, रविवार, द्रोणगिरी (म.प्र.) कार्तिक शुक्ला 13, वि.सं. 2049

पग विहार : 14 प्रान्तों में लगभग 1 लाख किलोमीटर

साधक	श्रमणाचार्य	श्रमण	गणिनी	श्रमणी	ऐल्लक	क्षुल्लक	क्षुल्लिका	श्रावक	श्राविका	योग
दीक्षाएँ	9	90	4	72	5	23	29	अनेकों	अनेकों	232
प्रशिष्य	1	90		58	1	14	23	अनेकों	अनेकों	187
समाधियाँ		47	2	30	-	4	6	12	22	123

साधना : 3 करोड़ 80 लाख से अधिक जाप, लगभग 28 व्रत पूर्ण (उपवास या नीरस द्वारा) चारित्र शुद्धि व्रत (1234 उपवास) साधनारत, अष्टमी एवं चतुर्दशी को नीरस एवं मौन, दही, तेल, सभी हरी पत्ती (मटर के अलावा) एवं लगभग 26 अन्य सामग्रियों का आजीवन त्याग।

वाहन, हीटर, कूलर, पंखा, ए.सी. तथा नेलकटर आदि का त्याग। अनियत विहार एवं आतापन योग की साधना, 36 घण्टे की अविचल साधना।

धर्म प्रभावना : वृहत् यति सम्मेलन एवं युग प्रतिक्रमण (जयपुर एवं झाँसी) अनेक तीर्थों का जीर्णोद्धार, अनेक सिद्धान्त वाचनाएँ, लगभग 82 पंचकल्याणक एवं गजरथ, 250 विधान, स्वयं डॉक्टरेट उपाधि से विभूषित एवं अनेक लौकिक डिग्री प्राप्त डाक्टर, सी.ए., इंजीनियर, वकील, एम.वी.ए., एम. काम, तथा ग्रेजुएट लोगों को दीक्षा, दिल्ली लाल किला पर 25 दीक्षाएँ तथा आपकी डाक टिकट का विमोचन।

साहित्य सृजन : लगभग 2000 वर्ष प्राचीन ग्रंथों पर सहस्त्राधिक पृष्ठीय सर्वोदया, रत्नत्रयवर्धिनी टीकाएँ, पाहुडद्वय पर श्रमण प्रवोधिनी एवं श्रमण संवोधिनी टीकाएँ लिखी।

–शास्त्र सार समुच्चय पर लगभग 3025 संस्कृत चूर्णि सूत्रों का सृजन

–प्राकृत भाषा में नवीन भक्तियों का सृजन

–जलबिन्दु महा-काव्य का सृजन

–ब्राह्मी लिपि का पुनः अध्ययन, प्रयोग/तथा अनेक लिपियों के अन्वेषक

–आगम चक्खू साहू, सम्यग्दर्शन, आध्यात्मिक शंका समाधान जैसे शोधपूर्ण साहित्य सहित लगभग 150 कृतियों का सृजन

समाज एवं राष्ट्रहित : वी.एड.कॉलेज, वीना, सम्यग्ज्ञान विराग विद्यापीठ–भिण्ड, पन्ना, व्रजपुर आदि में स्कूल। अहिंसा, व्यसन मुक्ति, शाकाहार , वेटी वचाओ, वेटी पढ़ाओ एवं स्वच्छता अभियान द्वारा लगभग 27 लाख लोगों को प्रभावित। न्यायालयों, जेलों, स्कूलों एवं कॉलेजों एवं अनेक सार्वजनिक

स्थानों पर प्रवचन। दर्शनार्थ पधारे अनेक राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री, सांसद, विधायक, अनेक मंत्री, हाईकोर्ट चीफ जस्टिस, इन्कमटैक्स एवं जी.एस.टी. के अधिकारी, क्रिकेटर, गायक कवि एवं प्रबुद्ध वर्ग।

उपाधियाँ : डॉक्ट्रेट मानद, बुंदेलखण्ड के प्रथमाचार्य, निस्पृही संत, उपसर्ग विजेता, युग प्रतिक्रमण प्रवर्तक, सूरीगच्छाचार्य, दीक्षा सिद्धहस्त आदि 50 से अधिक उपाधियों से अलंकृत।

मंगलाचरण

आकृष्टिं सुर संपदां विदधते, मुक्तिश्रियो वश्यताम्।
उच्चाटं विपदां चतुर्गति भुवां, विद्वेष मात्मैनसाम्।।
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो, मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पञ्च नमस्क्रियाक्षरमयी, साराधना देवता।।

जो देवों की विभूति का आकर्षण, मुक्ति लक्ष्मी का वशीकरण, चारों गतियों में होने वाली विपत्तियों का उच्चाटन नाश, आत्मा संबंधी पापों का विद्वेष-अभाव, दुर्गतियों में जाने वालों का स्तंभन-रोकथाम और मोह का सम्मोहन करती है वह पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र के आकार रूप आराधना देवी मेरी रक्षा करे।[1]

सल्लेखना व समाधिमरण का मुख्य उद्देश्य आराधना की रक्षा, वृद्धि व सिद्धि है। इसे समझे बिना काय, कषाय की सल्लेखना या समाधिमरण मात्र श्रम या संतुष्टि ही है वास्तविक नहीं, अतः हम सर्वप्रथम आराधना को समझने का प्रयास करेंगे। कहा भी है कि निर्वाण (मोक्ष) का सार सम्पूर्ण कर्म जन्य दुःखों से रहित, शुद्ध आत्मीक अतुल सुख है। अतः आत्महित की खोज करने वाले को उस अव्याबाध (बाधा रहित) सुख प्राप्ति के लिये चेष्टा करना चाहिए।[2]

प्रश्न–किस कार्य में चेष्टा करना चाहिए?

उत्तर–उस अव्याबाध सुख प्राप्ति के लिए निरतिचार सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र की परिणति रुप आराधना में चेष्टा करना चाहिए। क्योंकि प्रवचन (जिनागम) में चारित्र का सारभूतफल आराधना को कहा है अर्थात् समस्त प्रवचन का सार आराधना ही है। यह आराधना अत्यन्त दुर्लभ हैं।[3]

आराधना

आराधना का स्वरुप–भक्ति, उपासना और आराधना ये एकार्थ हैं।[4] दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के समवाय समूह को आराधना कहते हैं।[5]

जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं, ऐसे पुरुष की उन सम्यग्दर्शनादिक में रहने वाले अतिशयों अथवा उद्योतनादिक विशेषों में जो वृत्ति (आचरण) है उसी को भक्ति कहते हैं और इसी भक्ति का नाम ही आराधना है।[1]

मुमुक्षुओं के द्वारा जो साधी जाती है वह आराधना है।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र

और सम्यक्तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण को आराधना कहते हैं।[3]

सम्यक्त्वोद्योतन—युक्ति के बल से अथवा आप्त वचन के द्वारा यह इसी प्रकार है ऐसा निश्चय करके उत्पन्न हुई शंका को दूर करना सम्यक्त्व का उद्योतन है।

सम्यग्ज्ञानोद्योतन—वस्तु स्वरूप के निश्चय द्वारा यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति कर इसके दोषों का निराकरण सम्यग्ज्ञानोद्योतन है।

सम्यक्चारित्रोद्योतन—सम्यक्चारित्र रक्षक एवं वर्द्धक भावना का त्याग करना चारित्र का दोष है और दोषों का न होना अर्थात् सम्यक्चारित्र के प्रति अभिरुचि व प्रवृत्ति होना सम्यक्चारित्रोद्योतन है।

सम्यक्तपोद्योतन—तप करते हुए भी असंयम भाव होना तप का कलंक/मल/दोष है उसे दूर का संयम भाव की वृद्धि करना सम्यक्तपोद्योतन हैं।

उद्यवन—उत्कृष्ट उद्योग (पुरुषार्थ) को उद्यवन कहते हैं। अथवा सम्यक्त्वादि गुणों रूप बार-बार आत्म परिणति करना उद्यवन है।

निर्वहन—घोरोपसर्ग, परीषह आदि के आने पर भी निराकुल भाव से सुदृढ़ रहकर सम्यक्त्वादि रूप ही आत्म प्रवृत्ति बनाये रखना निर्वहन है।

साधन—भिन्न रूप उपयोगों से तिरोहित (छूटे हुए) सम्यग्दर्शनादि परिणामों को पुनः प्राप्त करना साधन है।

निस्तरण—सतत् (मृत्यु पर्यन्त निर्दोष रीति से) प्रयत्नशील रहकर सम्यग्दर्शनादि को अगले भव तक ले जाना निस्तरण है।[4]

इस तरह जैसे चारों आराधना में उद्योतन घटित किया है वैसे ही उद्यवन, निर्वहन, साधन, निस्तरण को भी चारों आराधनाओं में घटित करना चाहिए।

इन्हें ही अमितगति आचार्य ने मरणकण्डिका में भिन्न रूप से प्ररूपित किया है।

यथा—रत्नत्रय की (चारों आराधनाओं की) सिद्धि के पाँच हेतु कहे गये हैं द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि एवं निर्व्यूढि।

द्योतन—सम्यग्दर्शनादि के मल/अतिचारों का भली प्रकार से निराकरण करना द्योतन कहलाता है।

मिश्रण—आत्मा के साथ उस सम्यग्दर्शनादि का एकीकरण करना मिश्रण कहलाता है।

---

(1) स.भ. 13 (2) भ. आ. 13 (3) भ. आ. टी./13, 14 (4) आ. सा. टी./3 (5) अ. आ. 2

सिद्धि–रत्नत्रय या चतुर्विध आराधनाओं को पूर्ण करना सिद्धि कहलाती है।

व्यूढि–ख्याति, लाभ, पूजा की चाह के बिना सम्यक्त्वादि के वहन करने की बुद्धि होना अर्थात् निर्विघ्न रुप से उक्त गुणों का धारण करना व्यूढि है।

निर्व्यूढि–परीषह और उपसर्ग आदि के आने पर भी रत्नत्रय को, आराधनाओं को निराकुलता से मरण पर्यन्त ले जाना निर्व्यूढि (निस्तरण) कहलाती हैं।[1]

आराधना के भेद–आराधना के मुख्य दो भेद हैं-1. व्यवहार आराधना 2. निश्चय आराधना।[2]

1. सम्यग्दर्शनाराधना, 2. सम्यग्ज्ञानाराधना, 3. सम्यक्चारित्राराधना, 4. सम्यक् तपाराधना के भेद से आराधना के चार भेद हैं।

सम्यग्दर्शनाराधना, 2. सम्यग्ज्ञानाराधना, 3. सम्यक्चारित्राराधना के भेद से आराधना के तीन भेद हैं।

यहाँ सम्यक्चारित्राराधना में सम्यक् तपाराधना का समावेश हो जाता है क्योंकि सम्यक् चारित्र के बिना सम्यक् तप नहीं हो सकता है। अतः आराधना के तीन भी भेद हैं।

1. सम्यग्दर्शनाराधना, 2. सम्यक्चारित्राराधना के भेद से आराधना के दो भेद हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शनाराधना में सम्यग्ज्ञानाराधना का समावेश हो जाता है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् होती है तथा सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता तथा सम्यक् चारित्राराधना में सम्यक्तपाराधना का समावेश हो जाता है क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना सम्यक् तप नहीं होता, चाहे भले ही कोई अविरत सम्यग्दृष्टि या देशव्रती कितना भी तप करे तो भी उससे सम्यक्तपाराधना नहीं होती। इस सम्यक्चारित्राराधना के नियम से सम्यक्तपाराधना होती है। किन्तु तप के साथ चारित्र भजनीय है अथवा मिथ्यादृष्टि आदिकों में तप देखा जाता है किन्तु उनके तप को तपाराधना में नहीं ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र का अभाव है अतः चारों आराधनायें संक्षेप में दो प्रकार की ही हैं।

सम्यक् चारित्राराधना की अपेक्षा आराधना का एक ही भेद है।

यहाँ सम्यक्चारित्राराधना में शेष सभी आराधनाएँ समाविष्ट हैं। क्योंकि सम्यक्चारित्र, बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान के नहीं होता है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन ज्ञान का अविनाभावपना है। यहाँ सम्यक्चारित्र से सामायिक आदि चारित्र का ग्रहण किया गया है, तथा सम्यक्चारित्रवान् के नियम से सम्यक् तप होता ही है। अतः सभी आराधनाएँ एक सम्यक्चारित्र में समाविष्ट होने से एक सम्यक्चारित्राराधना होती है।[1]

---

(1) अन. ध. 1/98 (2) आ. सा. टी./1 (3) भ. आ. 2 (4) भ. आ. वि./2

व्यवहार आराधना

व्यवहार आराधना का स्वरूप—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के भेद रूप आचरण को व्यवहार आराधना कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने दर्शन ज्ञान चारित्र और तप का जैसा स्वरूप कहा है, तदनुरूप आचरण को व्यवहार आराधना कहते हैं।[2]

व्यवहार आराधना के भेद—व्यवहार आराधना के चार भेद हैं-

1.सम्यग्दर्शन आराधना, 2. सम्यग्ज्ञानाराधना, सम्यक्चारित्राराधना, 4. सम्यक्तप आराधना।[3]

सम्यक्त्वाराधना—जिनेन्द्र भगवान ने जीवादि पदार्थों का जैसा निरूपण किया है वैसा ही यथार्थता से सहित है अन्य प्रकार नहीं है इस प्रकार विश्वास प्रतीति या रूचि करना सम्यक्त्वाराधना है।[4]

हेय रूप पच्चीस दोष तथा उपादेय रूप प्रशम आदि गुण हैं इस तरह हेय के त्याग और उपादेय के ग्रहण से जिसमें जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान किया जाता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शनाराधना है।[5]

शंकादि दोषों को दूर करना सम्यक्त्वाराधना है।[6]

सम्यक्त्वाराधना के स्वामी—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की आराधना करने वाले के सम्यक्त्व आराधना होती है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुदगलद्रव्य, कालद्रव्य और जीवद्रव्य का आज्ञा से श्रद्धान करने वाला सम्यक्त्व का आराधक होता है।[7]

सम्यक्त्वाराधना के भेद—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से सम्यक्त्वाराधना तीन प्रकार की होती हैं।[8]

उत्कृष्टादि आराधनाओं के स्वामी—उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराधना अयोग केवली के होती है। मध्यम सम्यक्त्वाराधना बाकी के सम्यग्दृष्टियों के होती है। परन्तु परीषहों से जिसका मन उद्विग्न हुआ है, ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य आराधना होती है।[1]

उत्कृष्टादि आराधनाओं का फल—उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या सहित उत्कृष्ट सम्यक्त्व की उत्कृष्ट

---

(2) म. क./5 (3) आ. सा. टी. /2

आराधना हो तो उससे मोक्ष प्राप्त होता है। मध्यम शुक्ल लेश्या में वर्तमान मध्यम सम्यक्त्वाराधना वाले के सात भव शेष रहते हैं और जघन्य सम्यक्त्वाराधना के साथ मरने वाले के संख्यात अथवा असंख्यात भव शेष रहते हैं।[2]

सम्यक्त्वाराधना की शुद्धि के उपाय–शंकादि आठ दोषों को तीनों मूढ़ताओं को जाति कुलादिक निंद्य आठों मदों को और छहों अनायतनों को नियम से दृढ़तापूर्वक छोड़कर और निःशंकित आदि आठ गुणों को धारणकर तत्त्वार्थ एवं अर्हन्त परमेष्ठी की श्रद्धा, रूचि और प्रतीति आदि के द्वारा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि करना चाहिए।[3]

निःशंकित आदि आठ अंग एवं उनके लक्षण–

1. **निःशंकित अंग**–यथावस्थित वस्तु का स्वरूप यही है, इसी प्रकार ही है अन्य नहीं है, अन्य प्रकार नहीं है इस प्रकार मोक्षमार्ग में लोहे से बनी तलवार के पानी के समान अचल अडोल श्रद्धान करने को निःशंकित अंग कहते हैं।[4]
2. **निःकांक्षित अंग**–जो कर्मों की पराधीनता को लिए हुए है, अंतसहित है, अनेक प्रकार दुःखों से मिश्रित है, पापबंध के कारण ऐसे संसारिक सुखों में अस्थिर रूप श्रद्धा रखना निःकांक्षित अंग है।[5]
3. **निर्विचिकित्सा अंग**–क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थों में मल आदिक द्रव्यों में घृणा नहीं करना चाहिए।[6]
4. **अमूढदृष्टिअंग**–लोक में शास्त्राभासों में-जो शास्त्र तो न हो परंतु शास्त्र सरीखे मालूम होवे उसमें, धर्माभास में और देवताभास में सदा ही सम्यग्दृष्टि को मूढ़ता रहित श्रद्धान करना चाहिए।[7]
5. **उपगूहन अंग**–उपवृंहण के लिये अर्थात् उपगूहन अंग की रक्षा के लिए मार्दव, आर्जव, क्षमा, सत्य आदि भावनाओं के द्वारा निरंतर आत्मा का धर्म बढ़ाना चाहिए दूसरे के दोषों का आच्छादन करना चाहिए।[8]
6. **स्थितिकरण अंग**–न्याय मार्ग से चलायमान करने के लिए काम क्रोध, मद आदिकों के उदित होने से शास्त्रानुसार युक्तिपूर्वक अपने आपका व दूसरे का स्थितिकरण करना चाहिए।[1]

---

(1) भ. आ. वि./3 (2) आ. सा. 2 क्षेपक गाथा (3) आ. सा. 3 (4) आ. सा. टी./4 (5) आ. सा. टी./4 (6) भ. आ. वि./2 (7) भ. आ. 30, 35 (8) भ. आ. 48

7. **वात्सल्य अंग**—अहिंसा में मोक्ष सुखरुपी लक्ष्मी की प्राप्ति में कारणभूत धर्म में और समस्त समान धर्म वालों में उत्कृष्ट वात्सल्य भाव पालना चाहिए।[2]

8. **प्रभावना अंग**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन रत्न कहलाते हैं इनके प्रताप से निरंतर ही अपनी आत्मा प्रभावित करना चाहिए और दान, तप, जिनेन्द्र पूजन और विद्या के अतिशय-चमत्कारों से जैन धर्म से जनमानस को प्रभावित करना चाहिए।[3]

सम्यक्त्वआराधना की महिमा—तीनों जगत् के श्रेष्ठस्वामी जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वयं कहे हुए इस सम्यग्दर्शन रूपी अद्‌भुत एवं निर्मल रत्न का जिसने आदरपूर्वक अभ्यास किया है वह बलपूर्वक दुष्टकर्मों के समूह का नाश कर समीचीन तल्लीनता के द्वारा परब्रह्म की आराधनास्वरूप उस समीचीन पद को प्राप्त होता है जिसमें चिदानन्द अर्थात् आत्मा का सहज सुख आश्चर्यकारी रूप से उदित रहता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शनाराधना निश्चय सम्यग्दर्शनाराधना का कारण है।[4]

सम्यग्ज्ञान आराधना—आगम के अर्थ अथवा जीवादि पदार्थों का जो सम्यक् ज्ञान है वह परमागम में ज्ञान की आराधना कही गई है।[5]

ज्ञानाराधना की शुद्धि के उपाय—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए कालाध्ययनादि आठ पावन ज्ञानाचारों के द्वारा छल प्रपंचादि कुटिल भावों को छोड़कर ज्ञान की भले प्रकार शुद्धि करना चाहिए।[6]

आठ ज्ञानाचार एवं उनके लक्षण—1. कालाचार, 2. विनयाचार, 3. उपधानाचार, 4. बहुमानाचार, 5. अनिह्नवाचार, 6. व्यञ्जनाचार, 7. अर्थाचार और 8. उभयाचार।

1. **कालाचार**—गोसर्गकाल-सूर्योदय के दो घड़ी पीछे से लेकर मध्याह्न से दो घड़ी पूर्व तक, अपराह्नकाल-मध्याह्न के दो घड़ी पश्चात् से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक, प्रदोषकाल-सूर्यास्त के दो घड़ी उपरान्त से लेकर मध्यरात्रि से दो घड़ी पूर्व तक और विरात्रिकाल मध्यरात्रि के दो घड़ी उपरान्त से लेकर सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व तक इन चार उत्तम कालों में पठन, पाठन, चिन्तन, मनन आदि रूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं। चारों संध्याओं की अंतिम दो घड़ियों में, दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्यचन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के समय में सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय वर्जित है परन्तु स्तोत्र, आराधना, धर्मकथादिक ग्रंथों का स्वाध्याय किया जा

---

(1) भ. आ. 50 (2) भ. आ. 48 49 (3) स. म. दी. 117-118 (4) र. क. श्रा. 11 (5) र. क. श्रा. 12 (6) पु. सि. उ. 25 (7) पु. सि. उ. 26 (8) पु. सि. उ. 27

सकता है।

2. **विनयाचार**–शुद्ध जल से हाथ पैर धोकर शुद्ध स्थान में पर्यंकासन से बैठकर नमस्कार पूर्वक स्वाध्याय करने को विनयाचार कहते हैं। लेटकर या पैर पसारकर स्वाध्याय वर्जित है।
3. **उपधानाचार**–उपधान-चित्त की स्थिरता के साथ स्वाध्याय करने को उपधाचार कहते हैं। चित्त की स्थिरता के बिना पठित शास्त्र का स्मरण नहीं रहता। अथवा जब तक अमुक नाम वाले इस ग्रंथ का स्वाध्याय पूर्ण नहीं होगा तब तक के लिए यथाशक्ति कोई भी प्रणिधान/नियम/त्याग लेना उपधानाचार है।
4. **बहुमानाचार**–ज्ञान, पुस्तक तथा शिक्षक या वक्ता का पूर्ण आदर करने को बहुमानाचार कहते हैं।
5. **अनिह्नवाचार**–जिस गुरु अथवा जिस शास्त्र से ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसका नाम न छिपाने को अनिह्नवाचार कहते हैं।
6. **व्यञ्जनाचार**–शब्दशास्त्र-व्याकरण के अनुसार अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य आदि का शुद्ध उच्चारण करते हुए पठन पाठन करने को व्यञ्जनाचार कहते हैं। व्यञ्जनाचार को ही श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि कहते हैं।
7. **अर्थाचार**–शब्दों के शुद्ध अर्थ का अवधारणा करने को अर्थाचार कहते हैं।
8. **उभयाचार**–शब्दों के शुद्ध उच्चारण करते हुए शुद्ध अर्थ का अवधारण करना उभयाचार कहलाता है।[1]

ज्ञानाराधना की महिमा–जो मनुष्य भक्तिपूर्वक सात तत्त्व, नौ पदार्थ अथवा भावों से आश्चर्यकारी जिन प्रणीत परमागम की भावना करता है अथवा निरंतर उसका सम्यग्ज्ञान करता है वह बलपूर्वक दुष्टकर्मों के समूह को नष्ट कर परमब्रह्म की समीचीन आराधना से सहित तथा आश्चर्यकारी रूप से प्रकट हुए चिदानन्द-सहजानन्द से युक्त पद को प्राप्त होता है। स्वाध्याय अंतरंग तप है। समीचीन रीति से किया हुआ स्वाध्याय कर्म निर्जरा तथा केवलज्ञान से युक्त अरहन्त पद की प्राप्ति का कारण है इसलिये स्वाध्याय में (ज्ञानाराधना में) प्रयत्न करना चाहिए।[1]

---

(1) पु. सि. उ. 28 (2) पु. सि. उ. 29 (3) पु. सि. उ. 30 (4) आ. सा. टी./4 (5) आ. सा. /5 (6) स. म. दी. 121

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख-करोड़ भवों में नष्ट करता है उस कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त होकर अंतर्मुहूर्त मात्र में क्षय करता है। अज्ञानी के दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी विशुद्धि आहार करते हुए भी ज्ञानी के होती है। स्वाध्याय भावना से सब गुप्तियाँ भावित होती है और गुप्तियाँ की भावना से मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामों की आराधना में वह तत्पर होता है।[2]

सम्यक्चारित्र आराधना–प्राणी व इन्द्रिय रूप असंयम के त्याग पूर्वक विशुद्ध भावों से तेरह प्रकार के चारित्रमय आचरण करना इसे चारित्राराधना (कहते) कहा हैं।[3]

अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन से पाँच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ सब मिलाकर तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना चारित्राराधना कहलाती है।[4]

इस तेरह प्रकार के चारित्र का यथार्थ पालन 'मैं कब करूँगा' इस प्रकार चित्त में उल्लास रखना चाहिये तथा शीत, वायु आदि के द्वारा शरीर में खेद होने पर भी मन में किसी प्रकार का संक्लेश नहीं करना चाहिये। उक्त तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना ही चारित्राराधना नहीं है साथ में दो प्रकार के असंयम का त्याग करना भी आवश्यक हैं। असंयम दो प्रकार का है-एक इन्द्रियअसंयम और दूसरा प्राणीअसंयम। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों तथा मन का, स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण और शब्द आदि अपने-अपने विषयों में स्वेच्छापूर्वक विचरंण करना इन्द्रियासंयम कहलाता है और प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन चार प्रकार के त्रस जीवों का घात करना प्राणीअसंयम है। जैसा कि कहा है–मन और इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में इच्छानुसार जो प्रवृत्ति है उसे ज्ञानी पुरुष इन्द्रियासंयम कहते हैं।[5]

चारित्राराधना की शुद्धि के उपाय–पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों से चारित्राराधना की शुद्धि होती है।[6]

हिंसा पाप का मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से यावज्जीवन के लिए त्याग करना अहिंसा-महाव्रत है। सर्वप्रकार के असत्य वचनों का त्याग करना सत्य-महाव्रत है। सर्वप्रकार की चोरी का त्याग करना, यहाँ तक गिरी-पड़ी या रखी हुई किसी दूसरे की वस्तु का स्पर्श तक भी नही करना अचौर्य-महाव्रत है। सर्व प्रकार की स्त्रियों के सेवन का मन-वचन-काय

---

(1) आ. सा. टी. 5

से त्याग करना ब्रह्मचर्य-महाव्रत है। सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग करना और अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखना अपरिग्रह-महाव्रत है। इस प्रकार हिंसादि पाँचों पापों के यावज्जीवन त्याग करने से पाँच महाव्रत रूप सकल-चारित्र उत्पन्न होता है। इन पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालना आवश्यक है। जमीन को देख-शोध कर प्रासुक मार्ग पर चलना और रात्रि में गमन नहीं करना ईर्या-समिति हैं। वचन की सावधानी रखना और हित मित प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है। दिन में एक बार निर्दोष आहार के ग्रहण करने को एषणा-समिति कहते हैं। ज्ञान, संयम और शौच के उपकरण पुस्तक, पिच्छी और शास्त्रादि को देखभाल कर उठाना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है। निर्जन्तुक स्थान पर मल मूत्र क्षेपण करना व्युत्सर्ग-समिति है। इन पाँचों समितियों के परिपालन से पाँचों महाव्रतों में निर्मलता और दृढ़ता आती है। मन को वश में रखना-अपने मन को आर्त्त और रौद्र ध्यानरूप नहीं होने देना मनोगुप्ति है। वचन को वश में रखना-मौन धारण करना वचनगुप्ति है। काय को वश में रखना कायगुप्ति है।

चारित्राराधना की महिमा–जो दो प्रकार के असंयम से रहित तथा गुरूओं के चरण कमल युगलों की सेवा से प्राप्त तेरह प्रकार के सुदृढ़ चारित्र का संचय करता है-पालन करता है, यह बलपूर्वक खोटे कर्मों के समूह को नष्ट कर परमब्रह्म की समीचीन आराधना से सहित तथा आश्चर्यकारी रूप से उदित चिदानन्द सहजानन्द से युक्त पद को प्राप्त होता है।[1]

तपाराधना–अपनी शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तपों में जो उद्यम करना है उसे जिनागम में तपाराधना कहा है।[2]

अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से छह आभ्यन्तर तप हैं इस तरह दोनों मिलाकर बारह प्रकार के तपश्चरण में जो उद्यम है वह तप आराधना है।[3]

तपाराधना की शुद्धि के उपाय–चित्त-संक्लेश, दुर्ध्यान और दुर्लेश्या आदि आस्रव के कारणों को रोकने से तपाराधना की शुद्धि होती है।[1]

---

(1) आ. सा. टी. 5 (2) भ. आ. 107, 109 (3) आ. सा. 6 (4) आ. सा. टी./6
(5) आ. सा. टी. 6 (6) स. म. दी. 125

आर्त्त और रौद्ररूप ध्यान को दुर्ध्यान कहते हैं। इन्द्रियों के अभीष्ट विषयों की प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट विषयों की निर्वृत्ति के लिए मन में जो निरन्तर चिन्तन होता है, उसे आर्त्त ध्यान कहते हैं। हिंसादि पंच पापरूप और क्रोधादि कषायरूप परिणामों की प्रवृत्ति को रौद्र ध्यान कहते हैं। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को दुर्लेश्या कहते हैं। दुर्लेश्या वाले जीव के परिणाम सदा मलिन, उग्र कषायरूप और विषय-सेवन की उग्र प्रवृत्तिरूप रहते हैं।

तपाराधना की महिमा–दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना के समान ही तपाराधना करना चाहिए क्योंकि इसके बिना निकाचित कर्मों से छुटकारा नहीं मिल सकता है, तात्पर्य यह है कि तपाराधना से निकाचित जैसे कर्म परमाणु भी क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।[2]

व्यवहार आराधक–जो संसार सम्बन्धी सुख से विरक्त है, वैराग्य तथा परम उपशम भाव को प्राप्त है और नाना प्रकार के तपों से जिसका शरीर तपा हुआ है, ऐसा जीव व्यवहार आराधक होता है।[3]

यहाँ जो क्षपक सल्लेखनाधारी पुरूष निश्चय नय को जानना चाहता है तो भी उसे पहले प्रमाद रहित होकर इस व्यवहार आराधना की अच्छी तरह उपासना करनी चाहियें क्योंकि इसके बिना निश्चय नय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जैसा कि कहा है कि–'यह जीव व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना निश्चयमार्ग को प्राप्त करने की शक्ति को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रभा के विकास को देखे बिना कौन विवेकी मनुष्य सूर्योदय को कह सकता है?

निश्चय आराधना–समस्त विकल्पों से रहित तथा बाह्य आलम्बनों से रहित होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का अभेद रूप आचरण गुण और गुणी में भेद न करते हुए अभेद रूप त्रैकालिक ज्ञायक स्वभावी निज आत्मतत्त्व की आराधना शुद्धात्म तत्त्व में स्थिरता निश्चय आराधना है।[4] अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आत्मा की पर्याय होने से आत्मा ही है, अत: राग द्वेष को छोड़कर तथा इष्टानिष्ट हेयोपादेय आदि का विकल्प भी छोड़कर शुद्ध आत्मा की आराधना करो, यह निश्चय आराधना का प्रमुख अभिप्राय है।[5]

निश्चय आराधना के भेद–निश्चय आराधना के यद्यपि भेद नहीं हैं वह एक अखण्ड है फिर भी है उसका चारों आराधनाओं के रूप में भी कथन प्राप्त है। यथा 1. सम्यक्त्व आराधना, 2. ज्ञानाराधना, 3. चारित्राराधना, 4. तपाराधना।

निश्चय सम्यक्त्वाराधना–अपनी शुद्धात्मा का श्रद्धान करना निश्चय सम्यक्त्वाराधना है।

---

(1) आ. सा. टी. 6 (2) आ. सा. 7 (3) आ. सा. टी. 7

निश्चय ज्ञानाराधना–अपनी शुद्धात्मा को जानना निश्चय ज्ञानाराधना है।

निश्चय चारित्राराधना–इन्द्रिय विषयों से रहित निज शुद्धात्मा में आचरण करना निश्चय चारित्राराधना है।

निश्चय तपाराधना–निज शुद्धात्मा में आतपन करना निश्चय तपाराधना है।[1]

माला, चन्दन, स्त्री, गीत, नृत्य तथा वादित्र आदि बहुत से आलंबन चर्तुगति रूप संसार के कारण हैं इसलिये सल्लेखना धारक को चाहिए कि वह उन सबका त्याग कर अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करें।[2]

अतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप वह आत्मा ही है अतएव राग–द्वेष को छोड़कर शुद्धात्मा की आराधना करना चाहिए।[3]

जो रत्नत्रय स्वरूप अपनी उपादेय स्वरूप विशुद्धात्मा को छोड़कर पर द्रव्य की चिंता करता है वह निश्चय से विराधक कहा गया है।

प्रश्न–एक निज शुद्धात्मा ही उपादेय है तब पंचपरमेष्ठी की आराधना करने वाला भी विराधक कहलायेगा क्योंकि उनका आत्मा वा द्रव्य, निज आत्मद्रव्य से भिन्न है?

उत्तर–जो जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपनी शुद्धात्मा की आराधना करने के लिये प्रवृत्त होता हुआ भी शुद्धात्मा को पहले कभी देखा नहीं, सुना नहीं और उसका अनुभव भी नहीं किया, इसलिए उसमें शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करने के लिए तथा विषय-कषाय से बचने के लिये शुद्धात्मा की आराधना करने वाले पंच परमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना करता है, भले ही वे पंचपरमेष्ठी उसके आत्म स्वरूप से भिन्न है। उनकी आराधना करता हुआ भी यह जीव विराधक नहीं है, क्योंकि पंच परमेष्ठी आत्म स्वरूप के ही साधक है, अर्थात् उनकी आराधना करने से आराधक का लक्ष्य आत्म स्वरूप की ओर ही सन्मुख होता है।[4]

निश्चय आराधना का फल–निश्चय आराधना से यह जीव अपने स्वभाव में स्थित शुद्धात्मा का श्रद्धान करता है, पर्याय निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय के विषयभूत मात्र त्रैलाकिक ज्ञायक भाव रूप निजात्मा को ही जानता है पर्याय जन्य परिणमन पर उसकी दृष्टि गौण होती है तथा इन्द्रिय विषयों से अत्यंत निर्वृत्त होता हुआ मात्र शुद्धात्म स्वरूप में ही अनुचरण करता है।[5]

निश्चय आराध्य–चैतन्य स्वरूप निज शुद्धात्मा ही निश्चय आराध्य है।

---

(1) स. म. दी. 127 (2) आ. सा. टी. 7 (3) आ. सा. 8 (4) आ. सा. 8 (5) आ. सा. 10

निश्चय आराधक—निज स्वरूप में आचरण करने वाला निश्चय आराधक है।[1]

आराधना, आराध्य, आराधक तथा आराधना का फल इन चारों में संज्ञा लक्षण आदि की अपेक्षा से भेद है पर निश्चय से तो सब में आत्म द्रव्य ही वर्तता है। चारों आत्मा की ही पर्याय है। आत्मा से अभिन्न होने से आत्मा ही हैं।[2]

आराधना का फल—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप चार प्रकार की उत्कृष्ट आराधना करने से कर्मरूपी धूलि से छूटकर उसी भव से मुक्ति प्राप्त होती है, मध्यम आराधना की आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलि से छूटकर तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं तथा चार भेद रूप जघन्य आराधना करके धीर पुरूष कर्म रूपी धूलि से छूटकर सातवें भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं।[3]

विशेषार्थ—नय के दो भेद हैं शुद्ध नय और अशुद्धनय। शुद्धनय का दूसरा नाम निश्चय नय है और अशुद्धनय का दूसरा नाम व्यवहार नय है। जो पर-पदार्थ के सम्बन्ध से रहित तथा स्वकीय गुण-पर्यायों से अभिन्न-अखण्ड वस्तु को ग्रहण करता है वह शुद्ध नय अथवा निश्चयनय है और जो परपदार्थ के सम्बन्ध से युक्त और गुण-गुणी के भेद से सहित वस्तु को विषय करता है वह अशुद्धनय अथवा व्यवहारनय है। व्यवहारनय में गुण-गुणी का भेद रहता है इसलिये आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चार गुण हैं तथा आत्मा गुणी है, इस प्रकार का कथन होता है इसी भेद विवक्षा को लक्ष्य में रखकर सम्यग्दर्शनादि चार को चार आराधना कहा है, परन्तु निश्चय में गुण-गुणी का भेद नहीं रहता है इसलिये कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान और अधिकरण आदि समस्त विकल्पों से रहित, शुद्ध अर्थात् कर्ममलकलंक से रहित और निरालम्ब अर्थात् पञ्चेन्द्रियों के विषय सम्बन्धी सुख आदि के आलम्बन से रहित चैतन्य चमत्कार से युक्त शुद्ध परमात्मा स्वरूप के आलम्बन से सहित आत्मा ही आराधना है, ऐसा कथन होता है। संसारी अवस्था में यद्यपि कर्म और नोकर्म के साथ इस जीव का सम्बन्ध हो रहा है और इसके कारण इसके नानारूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं तथापि शुद्ध नय उन सब परपदार्थों से भिन्न एकरूपता को लिये हुए आत्मा का ही अनुभव करता है। जिस प्रकार कोई, रजत, ताम्र तथा पीतल आदि विभिन्न धातुओं के संसर्ग से मिश्रित सुवर्णपिण्ड को किसी चतुर स्वर्णकार के पास बेचने के लिए ले जाता है तो वह चतुर स्वर्णकार उस पिण्ड में जितना स्वर्ण होता है उसके अनुरूप ही मूल्य बतलाता है यहाँ स्वर्णकार की दृष्टि सिर्फ

(1) आ. सा. 9 (2) आ. सा. टी. 15 (3) आ. सा. टी. 15 (4) आ. सा. टी. 20 (5) आ. सा. 9

स्वर्ण की ओर है अन्य धातुओं की ओर नहीं इसी प्रकार शुद्धनय जीव की संयोगी पर्याय में जीव की ओर ही दृष्टि रखता है अन्य पदार्थों की ओर नहीं।

व्यवहाराराधना में यह आत्मा जीव अजीव आदि सात तत्त्वों का श्रद्धान करता था परन्तु निश्चयाराधना में उसकी दृष्टि उन सात तत्त्वों से हटकर अपने शुद्ध स्वभाव पर टिकती है, इसलिये निश्चयाराधना में शुद्ध आत्म स्वभाव का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। व्यवहाराधना में जीवादि सात तत्त्वों को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता था, परन्तु निश्चयाराधना में उसका लक्ष्य अन्य पदार्थों से हटकर अपने शुद्ध आत्म स्वरूप पर ही केन्द्रित हो जाता है, इसलिये निश्चयाराधना में अपने शुद्ध स्वभाव को जानना सम्यग्ज्ञान है। व्यवहाराराधना में महाव्रत, समिति तथा गुप्ति के पालन में उपयोग जाता था, परन्तु निश्चयाराधना में इन्द्रिय विषयों से इस आत्मा का उपयोग हट कर अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर होने लगता है इसलिये उसी शुद्धस्वरूप में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहते है इसी प्रकार व्यवहाराराधना में अनशनादि बाह्य तपों तथा प्रायश्चित्तादि अंतरंग तपों में इच्छाएँ केन्द्रित होती थी परन्तु निश्चयाराधना में इच्छाएँ उनसे निवृत्त होकर शुद्धस्वरूप में ही केन्द्रित हो जाती है, इसलिये निश्चयाराधना में आत्मस्वरूप के प्रतपन को ही सम्यक् तप कहते है। इसलिए आगम में निश्चयाराधना का वर्णन करते हुए कहा है कि सब विकल्पों से रहित, रागादि मल से शून्य और इन्द्रिय विषयों के आलम्बन से रहित आत्मा ही आराधना है। अत: वास्तव में श्रद्धान करना, जानना, अनुचरण करना और प्रतपन करना ये आत्मा की ही विशिष्ट परिणतियाँ हैं, इसलिए इन विशिष्ट परिणतियों की ओर से जब दृष्टि हटकर परिणतिमान आत्मा की ओर आती है तब एक आत्मा का ही भान होता है। जिस प्रकार वायु का संसर्ग पाकर जल में तरंग, बुदबुदा आदि अनेक परिणतियाँ होती है और उन परिणतियों के कारण जल अनेक रूप प्रतिभासित होता है, परन्तु उन विशिष्ट परिणतियों से जब दृष्टि हटकर सामान्य जल की ओर जाती है तब एक जल ही जल दिखाई देता है। निचली अवस्था में एक मोहजन्य चंचलता के कारण इस जीव का उपयोग इन्द्रियों के विषयों में जाता है परन्तु जैसे-जैसे मोहजन्य चंचलता को कम करता हुआ यह जीव उच्च अवस्था को प्राप्त होता जाता है वैसे-वैसे ही इसका उपयोग इन्द्रियों के विषयों से हटकर स्वरूप में ही स्थिर होने लगता है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है उनमें स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श आठ प्रकार का होता हैं। 1. गुरु, 2. लघु, 3. स्निग्ध, 4. रुक्ष, 5, शीत,

---

(1) आ. सा. 11 प्रक्षेपक गाथा 11 (2) आ. सा. 11 (3) भ. आ. 2154-2156

6. उष्ण, 7. मृदु और, 8. कठोर। रसना इन्द्रिय का विषय रस है। रस पाँच प्रकार का होता हैं– 1. कडुआ, 2. चरपरा, 3. मीठा, 4. खट्टा और 5. खारा। अन्य ग्रंथों में खारा के बदले कषाय रस को लिया है तथा खारा को मीठा के अन्तर्गत किया है। यहाँ कषायला रस को खट्टा के अन्तर्गत कर खारा को पृथक् रस बताया गया है। घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध है। गन्ध के दो भेद हैं।– 1. सुगन्ध और 2. दुर्गन्ध। चक्षु का विषय रूप है। रूप के पाँच भेद हैं – 1. सफेद, 2. पीला, 3. लाल, 4. नीला, 5. काला। श्रोत इन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द सात स्वरों में विभक्त है–1. निषाद, 2. ऋषभ, 3. गान्धार, 4. षडज, 5. मध्यम, 6. धैवत और 7. पंचम। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषय मिलकर सत्ताईस होते हैं।

समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते स्वर्ग- मोक्षादिसिद्धइये (सिद्धिवे)।
समाधिमरणं यत्नात् साधयन्तु शिवार्थिनः।।1।।

स्वर्ग और मोक्ष आदि की सिद्धि के लिए मृत्युरूपी कल्पवृक्ष के प्राप्त होने पर आत्म कल्याण के इच्छुक जनों के यत्नपूर्वक समाधिमरण की साधना करना चाहिए।

यतः सन्मृत्यु मात्रेण लभ्यन्ते हेलया बुधैः।
सवार्थसिद्धि-पर्यन्त-सम्पदो वा शिवप्रियः।।2।।

यत: ज्ञानीजन केवल समाधिमरण के द्वारा लीलामात्र से सर्वार्थसिद्धि तक की सांसारिक सम्पदाओं को और मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं अतः उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर यत्न करना चाहिये।

सल्लेखना

आराधना की सिद्धि के लिए साधक को सल्लेखना एवं समाधि की अत्यावश्यकता होती है। अतः प्रथम उसी का कथन करते हैं।

सल्लेखना (समाधि) की दुर्लभता–पाँच स्थावरों में निगोद साधारण वनस्पति का एक भेद है। निगोदिया जीव अनंत हैं, उनमें से एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्त गुणे जीव हैं। इस प्रकार के स्थावर जीवों से सर्वलोक निरन्तर भरा हुआ है। इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है। इसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों

में जिस प्रकार कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग, पक्षी और सरीसृप तिर्यञ्चों की बहुलता होती है। इसलिये जिस प्रकार चौराहे पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है। मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए पुद्गलों का पुनः उसी वृक्ष पर्याय रुप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुनः उसकी प्राप्ति भी हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रिय, सम्पन्नता और निरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय सुख में आसक्त होना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषय सुख से विरक्त हुआ तो भी (अपनी आत्मा में) तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरण रूप समाधि (सल्लेखना) का प्राप्त होना अति दुर्लभ है।[1]

बृहद् द्रव्य संग्रह में ब्रह्मदेवसूरी कहते हैं कि-

यदि काकतालीय न्याय से मनुष्यगति, आर्यत्व तत्त्वश्रवणादि सबकी उपलब्धि हो जाये तो भी इनकी प्राप्ति रूप जो ज्ञान है, उसमें फलीभूत जो शुद्धात्मा के ज्ञान स्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूप परम समाधि है, वह दुर्लभ है, इसलिए उसकी ही निरन्तर भावना करनी चाहिए। पहले नहीं प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है और उन्हीं सम्यग्दर्शनादिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना सो समाधि है। इसे ही समाधिमरण (सल्लेखना) कहा जाता है।[2]

सल्लेखना की आवश्यकता–यद्यपि मरण किसी को भी इष्ट नहीं है जैसे नाना प्रकार की विक्रय वस्तु के देने-लेने और संचय में लगे हुए किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है फिर भी परिस्थिति वश उसके विनाश के कारण उपस्थित हो तो यथाशक्ति वह उनको दूर करता है।

इतने पर भी यदि वे दूर न हो सके तो विक्रय वस्तुओं का नाश न हो, ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पुण्य (वस्तु विक्रय) स्थानीय व्रत और शील के संचय में जुटा हुआ गृहस्थ भी उनके आधारभूत आयु का पतन नहीं चाहता है, यदि कदाचित् उनके विनाश के कारण

उपस्थित हो जाये तो जिससे अपने गुणों में बाधा नहीं पड़े, इस प्रकार उनके दूर करने का प्रयत्न करता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हों तो जिससे अपने गुणों का विनाश न हो इस प्रकार प्रयत्न करता है इसलिए उसको आत्मघात का दोष कैसे हो सकता? अर्थात् नहीं हो सकता है।[1]

सल्लेखना का स्वरूप–सल्लेखना शब्द पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है 'सम्यक्‌काय-कषाय-लेखना-सल्लेखना' अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृष करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह, कि शरीर तथा रागादि दोषों को तथा उनके कारणों को (मृत्युपर्यंत) कम करते हुए प्रसन्नता पूर्वक बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृषीकरण किया जाता है, उस उत्तम क्रिया–विशेष का नाम सल्लेखना है।[2]

सल्लेखना आत्मघात नहीं है-

प्रश्न–चूँकि सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है, इसलिए ये आत्मघात हुआ?

उत्तर–यह कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है, प्रमत्त योग से प्राणों का वध करना हिंसा हैं, परन्तु इसके प्रमाद नहीं हैं, क्योंकि इसमें रागादिक नहीं पाये जाते हैं। राग, द्वेष और मोह से युक्त होकर जो विष और शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करके उनसे अपना घात करता है, उसे आत्मघात का दोष प्राप्त होता है। परन्तु सल्लेखना को प्राप्त हुये जीव के रागादिक तो है नहीं, इसलिए इसे आत्मघात का दोष प्राप्त नहीं होता है।[1]

---

(1) एकस्मिन्निगोत शरीरे जीवाः सिद्धानामनन्तगुणाः। एवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैरतस्तत्र त्रसता वालुका समुद्रे पतिता वज्रसिकताकणिकेव दुर्लभा। तत्र च विकलेन्द्रियाणां भूयिष्ठत्वा त्पञ्चेन्द्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यंक्षु पशुमृग–पक्षिसरीसृपपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्य भावश्चतुष्पथे रत्नराशिरिव दुरासदः। तत्प्रच्यंव च पुनस्तदुत्पत्तिर्दग्ध तरुपुद्‌गलतद् भावोपपत्तिवद् दुर्लभा। तल्लाभे च देश कुलेन्द्रिय संपन्नीरोगत्वान्युत्तरोऽतिदुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलम्भो यदि न स्याद् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलम्। तमेवं कृच्छलभ्य धर्ममवाप्य विषयसुखे रञ्जनं भस्मार्थचन्दनदहनमिव विफलम्। विरक्तविषयसुखस्य तु तपोभावना धर्म प्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुरवापः तस्मिन् सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिन्तनं बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा। (स.सि. 917)

(2) कथंचित् काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूप बोधेः फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्यात्मक निर्मलधर्मध्यान शुक्लध्यान रूपः परमसमाधिर्दुर्लभः।.....तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः।....सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति। द्र. सं. टी./35

सल्लेखना आत्मघात क्यों नहीं?

पुरुपार्थ सिद्धयुपाय में आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है-

मरणेऽवश्यं भाविनि कषाय सल्लेखना तनूकरणमात्रे।
रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥[2]

मरण के नियम से उत्पन्न होने पर कषाय सल्लेखना के सूक्ष्म करने मात्र में रागद्वेष की प्रवृत्ति के विना सल्लेखना धारण करने वाले पुरुष के आत्मघात नहीं है। अतः सल्लेखना धारण करने वाले आत्मघाती नहीं है तो आत्मघाती कौन है—हिंसा का मुख्य कारण कषाय है किन्तु सल्लेखना में कषाय का कृषिकरण (अभाव) होता है, अतः सल्लेखना हिंसा नहीं, अहिंसा ही है।[3]

यो हि कषायाविष्टः कुम्भक जल धूमकेतु विषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् स्वयमात्मवधः॥[1]

निश्चय करके जो पुरुष कषाय से रंजित होता हुआ कुम्भक् (श्वांस को रोकना) जल, अग्नि, विष और शास्त्रों के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है, वह ही वास्तव में, आत्मघाती है।

संयम रक्षार्थ मरना भी सल्लेखना नहीं –

प्रश्न—संयम विनाश के भय से श्वासोच्छ्‌वास का निरोध करके मरे हुए साधु के शरीर का त्यक्त शरीर के तीन भेदों (भक्त प्रत्याख्यानादि) में से किस भेद में अन्तर्भाव होता है?

उत्तर—ऐसे शरीर का त्यक्त के किसी भी भेद में अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि इस प्रकार से मृत शरीर को मंगलपना प्राप्त नहीं होता है।[1] तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य ने मरण के व्याख्यान में मरण के मुख्य तीन भेद कहे हैं—1) च्युत, 2) च्यावित, 3) त्यक्त।

---

(1) किं च मरणस्यानिष्टत्वात्वाद्यथा वणिजो विविधपण्य दाना दान संचय परस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपरिस्थते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशील पण्य संचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवांछति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्। (स. सि. 7/22)

(2) सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना। कायस्य वाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। (स. सि. 7/22)

च्युत-कदलीघात एवं संन्यास के बिना आयु की पूर्णता को च्युत कहते हैं। **च्यावित**-संन्यास बिना कदलीघात युक्त मरण को च्यावित कहते हैं। **त्यक्त**-संन्यास सहित मरण को त्यक्त कहते हैं। त्यक्त मरण के तीन भेद हैं–1) प्रायोपगमन मरण, 2) इंगिनीमरण तथा 3) भक्त प्रत्याख्यान।

सल्लेखना के स्वामी–सल्लेखनाविधि शीलव्रतधारी गृहस्थ को ही नहीं, किन्तु महाव्रती साधु के भी होती है।

सभी व्रतियों की सल्लेखना आवश्यक नहीं

प्रश्न–(तत्त्वार्थ सूत्र 22 वें) इस सूत्र को पहले सूत्र के साथ ही मिला देना योग्य था, क्योंकि ऐसा करने से सूत्र छोटा हो जाता?

उत्तर–नहीं, क्योंकि कभी-कभी तथा किसी-किसी को ही सल्लेखना की अभिमुखता होती है, यह बात बताने के लिए पृथक सूत्र बनाया गया है। सात शीलव्रतों को धारने वाला कोई एकादि गृहस्थ ही कदाचित् सल्लेखना के अभिमुख होता है, सब नहीं।[3]

सल्लेखना योग्य द्रव्य (शरीर) क्षेत्र व काल–महाप्रयत्न से चिकित्सा करने योग्य ऐसा कोई दुरुत्तर रोग होने पर, श्रामण्य की हानि करने वाली अतिशय वृद्धावस्था आने पर अथवा निःप्रतिकार देव, मनुष्य व तिर्यंचकृत उपसर्ग आ पड़ने पर, बंधु शत्रु जब चारित्र का नाश करने को उद्यत हो जाये, भयंकर दुष्काल आ पड़ने पर, हिंसक पशुओं से पूर्ण भयानक वन में दिशा भूल जाने पर, आँख, कान व जंघा बल अत्यन्त क्षीण हो जाने पर तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी तत्सदृश कारणों के होने पर मुनि या गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान के योग्य समझे जाते है।[4]

निष्प्रतिकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होने पर, बुढ़ापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर धर्मार्थ शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं।[5]

जरा, रोग, इन्द्रिय व शरीर बल हानि तथा षडावश्यक का नाश होने पर सल्लेखना होती है।[6]

---

(1) स्यान्मत मात्मवधः प्राप्नोतिः, स्वाभिसन्धि पूर्वकायुरादिनिवृत्तेः? नैष दोषः, अप्रमत्तत्वात्। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा...। न चास्य प्रमादयोगोऽसि। कुतः रागाद्यभावात्। रागद्वेष मोहाविष्टस्य हि विष शस्त्राद्युपकरणप्रयोग वशादात्मानंध्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति तपो नात्मवधदोषः। (स. सि. 7/22)

(2) पु. सि. 177 (3) पु. सि. 179 (4) पु. सि. 178

सल्लेखना जीवन के अंत में–यह सल्लेखना मरण के अंत समय में करना चाहिए, जैसा कि पूज्य आचार्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि व्रती श्रावक मारणान्तिक सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला होता है। उसी भव के मरण का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'मरण' शब्द के साथ 'अन्त' पद का ग्रहण किया है, मरण यही अन्त मरणान्त है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है, यह मारणान्तिकी कहलाता है।[1]

अन्त समय की प्रधानता का कारण–चिरकाल से आराधना किया हुआ धर्म भी यदि मरने के समय छोड़ दिया जाये या उसकी विराधना की जाये तो वह निष्फल हो जाता है और यदि मरने के समय उस धर्म की आराधना की जाये तो यह चिर काल से उपार्जितपापों का भी नाश कर देता है।[2]

सल्लेखना का अभ्यास पूर्व से–

प्रश्न–जिन्होंने बहुत काल तक रत्नत्रय की आराधना नहीं की है, किन्तु मरण समय उसकी आराधना कर केवल अंतःमुहूर्त काल पर्यन्त में ही आराधना के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त कर लिया है, अतः चिरकाल पर्यन्त रत्नत्रय की भावना आवश्यक नहीं हैं?

उत्तर–पूर्व काल में जिस जीव ने रत्नत्रय की कभी आराधना नहीं की है वह मरण समय उनकी आराधना नहीं करता, ऐसा व्यक्ति स्थाणु के दृष्टांत को प्राप्त होता है अर्थात् बिल्कुल उस अंधे व्यक्ति की भांति है जो कि आकस्मात् स्थाणु से टकरा जाने के कारण नेत्रवान हो गया और साथ ही उस स्थाणु की जड़ में पड़े रत्नों का लाभ भी जिसे हो गया।[3] मरण समय रत्नत्रय की सिद्धि के लिए सम्यग्दर्शनादि कारण कलाप सामग्री को अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए अर्थात् उसका सर्वथा अभ्यास करना योग्य हैं, क्योंकि ऐसा करने वाले को मरण समय में सुख पूर्वक अर्थात् बिना क्लेश के उस आराधना की सिद्धि हो जाती है। जैसे- राजपुत्र शस्त्र विद्या का नित्य अभ्यास करता है और उसी से वह युद्ध में उस प्रकार का कार्य करने में समर्थ होता है, इसी प्रकार साधु भी आराधना के योग्य नित्य अभ्यास करता है और उसी से वह जितेन्द्रिय होता हुआ मरण समय में भी ध्यान करने में समर्थ हो जाता है। यह एक ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ चलने को समर्थ है, इस प्रकार भक्ति करके मरणान्त सल्लेखना को

(1) संजम-विणास-भएण उस्सासणिरोहं काऊण मुदसाहु-सरीरं कत्थ णिवददिग? ण कत्थ वि, तहा-मुददेहस्स मंगलत्ताभावादो। ध. 1/25

(2) रा. वा. 7/22 (3) रा. वा. 7/22 (4) भ. आ. 70-73 (5) र. क. श्रा./122 (3) रा. वा. 7/22

निरन्तर भाना चाहिए। मैं मरण काल में अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से समाधि मरण करूँगा। इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरणकाल प्राप्त होने के पहिले ही यह सल्लेखना पालना चाहिए।[1]

यदि कोई दुर्निवार प्रतिरोधी कर्म उदय में न आवे तो सम्यक् प्रकार से पूर्व में भावित रत्नत्रय के कारण वह अन्तकाल में अवश्य ही आराधक होता है। तीर्थक्षेत्र या निर्यापक के प्रति प्रारम्भ कर दिया है गमन जिसने, ऐसा व्यक्ति यदि मार्ग में मरण को प्राप्त हो जाये तो भी उस भावना के कारण आराधक ही गिना जाता है, क्योंकि भावना भव नाशिनी होती है।[2]

अन्त समय व जीवन पर्यन्त की आराधना का समन्वय—मरण समय में रत्नत्रय की विराधना करने से विराधक को दीर्घकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है। परन्तु दीक्षा, शिक्षा आदि काल में विराधना हो गयी हो तो भी मरणकाल में अवश्य ही रत्नत्रय में परिणति करनी चाहिए, ऐसा हमारा अभिप्राय है। परन्तु इतर कालों में की गयी रत्नत्रय की आराधना भी विफल नहीं होती, उससे कर्म का संवर व निर्जरा होती है तथा घातिया कर्मों के क्षय करने में वह निमित्त होती है, ऐसा हम समझते हैं।[3]

विशेषार्थ—सल्लेखना को किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने श्रावकों के बारह व्रतों में ग्रहण किया है, अतः यह एक शिक्षाव्रत है, यथा-

चउत्थे सिक्खावदे पच्छिम सल्लेहणा मरणं चेदि...। वृहद प्रतिक्रमण **वद पडिमाए चउत्थे सिक्खावदे—जीविदा संसणेण वा मरणासंसणेण वा, मित्ताणुराएण वा...।** श्रावक प्रतिक्रमण

चउत्थं सल्लेहणा अंते....। चारित्रपाहुड गाथा 25

---

(1) मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता 'अंत' ग्रहणं तद्भव मरण प्रतिपत्त्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्तः। स प्रयोजनमस्येति मारणान्तिकीं।
(त, सू /स. सि. 7/22) (2) सा, धा, 8/16

(3) चिरमभावितरत्नत्रयाणामन्तर्मुहूर्तकाल भावनानां सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरभावनयेत्यस्योत्तरमाचष्टे?
(पुव्वमभाविदजोग्गो आराधेज्ज मरणे) जदि वि कोई।
(खण्णुगदिट्ठंतो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ।)।

(भ. आ. वि. /24)

सल्लेहणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं। वसुनंदी श्रावका. गाथा 22

मरणंते कुणइसल्लिहणं.....। प्रा. भाव संग्रह गा. 6

सल्लेखना और समाधिमरण यद्यपि एक ही है। जैसा कि उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि–**''मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता''** (त.सू. 7/22) अर्थात् मरणान्त समय सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए तथा तत्वार्थसूत्र के अंत में जुड़ी प्रक्षिप्त गाथा में कहा है कि–**''अंते समाहि मरणं''** (प्रक्षिप्तगाथा)

अर्थात् मरणान्त समय में समाधिमरण धारण करना चाहिए आदि। उक्त दोनों वाक्यों में मरणान्त बेला में सल्लेखना व समाधि का उल्लेख है। अतः इससे सिद्ध होता है कि कथंचित् ये दोनों शब्द सामान्य से एकार्थवाची हैं।

श्रावकों का चौथा शिक्षाव्रत सल्लेखना माना है। जबकि उमास्वामी, समन्तभद्र, अमृतचंद्रादि आचार्यों ने अपने ग्रंथों में सल्लेखना व्रत को स्वीकार तो किया है, किन्तु उसे बारह व्रतों में नहीं गिनाया है तथा स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उसे मरणान्त काल में धारण करना चाहिए यथा–

मरणान्तिकीं.... (त. सू. 7/22) **अंते समाहिमरणं....**प्रक्षिप्तगाथा

अंत क्रियाधिकरणे.....र. क. श्रा. 723

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखना...पु. उ./176

अतः स्पष्ट है कि मरणान्त बेला में सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए। तात्पर्य

---

(1) आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं।
परियम्मभाविदस्स हु सुह सज्झाराहणा होइ।।
जह राय कुल पसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परियम्मं।
तो जिद करणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि।।
इय सामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं।
तो जिंदकरणो मरणे झाण समत्थो भविस्सहदि।। (भ. आ. 19-21)

(2) सा. ध. 8/18-31 (3) भ. आ. वि. 18
सल्लिहइ मुणी देहं... भ. आ. 248
सल्लेहणं कुणइ...संजममविराहिंतो जहावलं सल्लिहइ देहं... भ. आ. 249, 250
जहावलं सल्लिहंतस्स...एवं सरीर सल्लेहणा विहिं...भ. आ. 251, 258
कसाय सल्लेहणा भणिदा...सल्लेहणा विसुद्धा केई...भ. आ. 261, 1669

यह है इस विषय में जैनाचार्यों की दो प्रकार की मान्यताएँ हैं–एक यह कि इसे श्रावकों के व्रतों के साथ धारण करना चाहिए, जिसका जीवनपर्यंत पालन करना चाहिए। दूसरा यह कि इसे मरणान्त बेला में धारण करना चाहिए। यदि इसे हम यूँ समझे कि अभ्यास दशा (बेला) में सल्लेखना (काम-कषाय का क्षीण करना) और मरणान्त दशा (बेला) में समाधि (धर्म ध्यान आदि) के साथ प्राण विसर्जन करना तो विषय स्पष्ट हो जाता है, तथा फलितार्थ यह निकलता है कि जिन आचार्यों ने सल्लेखना व्रत को पूर्व से (श्रावकों के व्रतों से) स्वीकारा है उन्होंने सल्लेखना और समाधिमरण में अंतर मान के ही कथन किया है तथा जिन्होंने मरणान्त बेला में ही सल्लेखना स्वीकार किया है उन्होंने सल्लेखना और समाधिमरण को एकार्थ माना है।

प्रश्न–सल्लेखना श्रावकों की होती है क्योंकि श्रावक व्रतों में ही सल्लेखना को गिनाया गया है?

उत्तर–ऐसा सर्वथा एकान्त नहीं है क्योंकि भगवती आराधना में सल्लेखना को मुनियों के लिये भी स्वीकार किया गया है यथा-

उक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि साधु/मुनियों के लिए भी सल्लेखना शब्द प्रयुक्त है। कहा भी है कि "अयं सल्लेखना विधिः न श्रावकस्यैव दिग्व्रत्यादिशीलवतः। किं, तर्ति? संयतस्याभिः" अर्थात् यह सल्लेखना विधि मात्र दिग्व्रतों से युक्त शीलव्रतधारी श्रावक ही नहीं किन्तु संयत महाव्रती मुनिराजों की भी होती है। (रा, वा. 6/22/116/552/13)

प्रश्न–तो क्या मुनियों के समाधिमरण का उल्लेख नहीं हैं?

उत्तर–भगवती आराधना आदि ग्रंथों में मुनियों के समाधि मरण का भी उल्लेख है यथा–**समाधीए....समाधि णिमित्तं....समाधिकरणुज्जुदा...समाधि कामा....समाधि मिच्छति. ...समाधि जदणाए....** (भ. आ. 633, 639, 647, 649, 663, 669)

इसी प्रकार श्रावकों में भी सल्लेखना व समाधिमरण का प्रयोग किया गया है। यथा- सल्लेखना शब्द का प्रयोग शिक्षाव्रतों में देख चुके हैं, श्रावक को भी समाधि शब्द का प्रयोग है यथा–**समाधि मरणे प्रयतितव्यम्...** र. क. श्रा. 123, **गृहधर्ममिमं कृत्वा समाधि प्राप्त पंचतः....**पद्म पु. सर्ग 14/203

अर्थात् श्रावकों का भी समाधिमरण होता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि सल्लेखना और समाधि ये दोनों शब्दों का प्रयोग मुनि एवं श्रावकों दोनों के लिये हुआ है, अतः मुनि व श्रावक दोनों ही सल्लेखना व समाधि के अधिकारी हैं।

सल्लेखना के भेद–इसके दो भेद हैं–द्रव्य और भाव तथा बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की हैं।

द्रव्य एवं भाव सल्लेखना–आत्म संस्कार के अन्तर उसके लिए ही क्रोध कषाय रहित अनन्तज्ञानादि गुण लक्षण परमात्मपदार्थ (भाव सल्लेखना) है इसे ही कषाय सल्लेखना, आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। उस भाव सल्लेखना के लिए कायक्लेश रूप अनुष्ठान करना अर्थात् भोजन आदि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य सल्लेखना है। इसे ही शरीर सल्लेखना वा बाह्य सल्लेखना कहते हैं।[1]

बाह्य और अभ्यंतर सल्लेखना–अभ्यंतर सल्लेखना क्रोध आदि कषाय की होती है, बाह्य सल्लेखना शरीर के विषय में होती है अर्थात् उपरोक्त लक्षण में कषाय को कृश करना तो आभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है।[2]

बाह्य सल्लेखना–क्षपक बल को बढ़ाने वाले सब रसों को त्याग कर प्राप्त हुए सूखे आहार से कोई एक नियम विशेष लेकर तथा अनशन आदि के द्वारा अपने शरीर को क्रम से कृश करता है।[3] अनशन के मुख्य दो भेद हैं–

1. अद्धानशन, (अर्द्धानशन) 2. सर्वानशन

(1) ग्रहण काल में अर्थात् दीक्षा ग्रहण से लेकर संन्यास धारण करने से पूर्व के काल में तथा प्रतिसेवना काल अर्थात् दोषों की विशुद्धि के लिए तो **अद्धानशन होता** है।

(2) परिणाम काल के अंत में अर्थात् मरण समय में **सर्वानशन होता** है।[4]

इसी प्रकार क्षपक, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान तप को भी अपनी शक्ति के अनुसार करता है दूध, दही, घी, तेल, गुड़ का और घृत पूर, पुवे, पत्रशाक, सूप और लवण इन सबका अथवा एक-एक का त्याग रस-परित्याग है अर्थात् सल्लेखना काल में दूध आदि सबका या उनमें से यथायोग्य दो, तीन, चार रस का त्याग रसपरित्याग है।[5] साथ ही क्षपक विविक्त वसतिका में रहते हुए विविक्त शय्यासन एवं कायक्लेश तप को करता है।

विविक्त वसतिका इस प्रकार हो–वह वसतिका खुले द्वार वाली हो अथवा बन्द द्वार वाली हो। उसकी भूमि सम हो अथवा ऊँची-नीची न हो। वह बाहर के भाग में हो अथवा अंदर के भाग में हो। स्त्री, नपुंसक और पशुओं से रहित हो ठंडी हो या गर्म हो। शून्य घर, पहाड़ की गुफा, वृक्ष का मूल, आने वालों के लिये बनाया घर, देवकुल (मंदिर), शिक्षा घर (स्कूल),

किसी के द्वारा न बनाया गया स्थान, आराम घर (विश्राम घर), क्रीड़ा के लिए आये हुओं के आवास के लिए जो बनाया गया है ये सब विविक्त वसतिका हैं। विविक्त वसतिका में कलह, शब्द बहुलता, संक्लेश, चित्त का व्यमोह, अयोग्य असंयमियों के साथ संबंध, यह मेरी है ऐसा भाव तथा ध्यान और अध्ययन में व्याघात नहीं होना चाहिए।[1]

बाह्य सल्लेखना का महत्त्व–बाह्य तप से मरण काल में जो सर्व आहार का त्याग करना होता है उसका अभ्यास होता है। आहार और सुख में जो अनुराग है उसका प्रशमन होने से आत्मा का दमन होता है। प्रतिदिन आहार सम्बन्धी आशा के, त्याग के अभ्यास से आहार के विषय में निराशा सम्पन्न (उत्पन्न) होती है। अभिप्राय यह है कि समस्त आहार का त्याग करने के काल में भी आहार सम्बन्धी इच्छा का विनाश सुकर होता है। आहार में लम्पटता नहीं रहती। जिसकी आहार में गृद्धि है वह आहार पाकर उसे छोड़ नहीं सकता। लाभ और अलाभ में समता रहती है। आहार का लाभ होने पर हर्ष नहीं करता और अलाभ में क्रोध नहीं करता। जो स्वयं भी प्राप्त आहार को छोड़ देता है वह दूसरों के न देने पर अपना मन कैसे खराब कर सकता है। ब्रह्मचर्य को धारण करता है। रसीले आहार के त्याग से नवीन वीर्य संचय नहीं होता और अनशन से संचित वीर्य क्षय होता है तब स्त्री में अनुराग नहीं होता तथा जिन पुरुषों में वीर्यहीनता होती है उनके प्रति स्त्रियों की विमुखता प्रसिद्ध ही है।[2]

बाह्य तप से आत्मा, अपना कुल, गण, अपनी शिष्य पर .रा शोभित होती है। आलस्य छूट जाता है और दुर्धर तप करने से संसार का मूल कर्म विशेष रूप से नष्ट होता है। यति के बाह्य तप को देख बहुत से लोगों को संसार से भय उत्पन्न होता है। अवश्य ही यहाँ कुछ भय है मैं भी तैयारी करता हूँ। इस प्रकार लोग तप में प्रवृत्त होते हैं। तप में उद्यत जन को देखकर संसार के भय से इस प्रकार का कष्ट उठाता है। हम भी इससे बच नहीं सकते ऐसा मान संसार से डरता है और डरकर उसका प्रतिकार करता है। तपस्वी को देखकर मिथ्यादृष्टियों में भी सौम्यता आ जाती है। यतियों के बाह्य तप करने से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित होता है, क्योंकि तप के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं होती और न ही भगवान् की आज्ञा का अनुपालन होता है।[3]

बाह्य तप से शरीर में हल्कापन आता है। जिसका शरीर हल्का होता है वह आवश्यक क्रियाओं को सरलता से करता है तथा स्वाध्याय और ध्यान बिना कष्ट के होते हैं। शरीर से स्नेह का

(1) पं. का. ता. वृ. 173 (2) भ. आ. 208 (3) भ. आ. 209 (4) भ. आ. 211 (5) भ. आ. 217

विनाश होता है यह भी एक गुण है। शरीर के स्नेह से ही मनुष्य असंयम का आचरण करता है। शरीर ही अनर्थ का कारण है। इसी के स्नेहवश मनुष्य, तप नहीं करता। अत: तप से अहितकारी शरीर स्नेह का विनाश होता है। दुष्कर तप करने वाले के रागादि का उत्कृष्ट उपशम होता है वह मन में विचारता है, इस उपद्रवकारी राग से मुझे क्या? राग के होने पर नवीन कर्म का बंध होता है और पूर्वबद्ध कर्मों में रस की वृद्धि होती है। ऐसा होने पर मेरा कष्ट सहन करना निष्फल है। ऐसे विचार से उपशम होता है। इसका अर्थ कोई 'परिमित आहार' करते हैं। उसमें नीरोगता आदि गुण हैं।[1]

आभ्यन्तर सल्लेखना की प्रधानता–उक्त क्रम से नाना प्रकार की शरीर सल्लेखना की विधि को करते हुए भी परिणामों की विशुद्धि को क्षपक एक क्षण के लिए भी न छोड़े। परिणामों की विशुद्धि को छोड़कर जो उत्कृष्ट भी तप करते हैं, उनकी चित्तवृत्ति पूजा-सत्कार आदि में ही लगी होती है तथा उनके अशुभ कर्म के आस्रव से रहित शुद्धि नहीं होती अर्थात् दोषों से मिली हुई शुद्धि होती है। जो अतिविशुद्ध, शुक्ललेश्या से युक्त और विशुद्ध परिणाम वाला, अनुत्कृष्ट भी तप करता है वह केवल शुद्धि को पाता है। जिसका चित्त कषाय से दूषित है उसके परिणाम विशुद्धि नहीं होती। इसलिए परिणाम विशुद्धि को कषाय सल्लेखना कहा है। क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से, इस प्रकार चारों ही कषायों को जीतो। जो उन कषायों की उत्पत्ति को ही रोक देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ के वश में नहीं होता।[2]

उस वस्तु को छोड़ देना चाहिए जिसको लेकर कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है और उस वस्तु को अपनाना चाहिए जिसके अपनाने से कषायों का उपशम भाव उत्पन्न होता हो। यदि थोड़ी भी कषाय रूप आग उठती हो तो उसे बुझा दें। जो कषाय को दूर करता है उस के राग-द्वेष की उत्पत्ति शांत हो जाती है। जितने भी परिग्रह हैं वे सब राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है। जलती हुई कषाय रूप आग समस्त चारित्र नामक सार को जला देती है। सम्यक्त्व को भी नष्ट करके अनंत संसार के परिभ्रमण में लगा देती है। इसलिए पाप रूप कषायाग्नि को उत्पन्न होते ही बुझा देना चाहिए, उसको बुझाने का जल है उपशम भाव यथा–''मैं भगवान जिनेन्द्र देव की शिक्षा की इच्छा करता हूँ। मेरा खोटा कर्म मिथ्या हो, मैं नमस्कार करता हूँ।'' इसी तरह उत्कृष्ट

---

(1) भ. आ. 231, 233, 234 (2) भ. आ. वि. 242 (3) भ. आ. वि. 244-245

उपशम भाव के द्वारा हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद, नंपुसकवेद इन नोकषायों में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की चाह रूप संज्ञाओं में तथा ऋद्धि की तीव्र अभिलाषा, रस और सुख की चाह रूप गारवों में भी घटाना चाहिए। जो प्रतिदिन अपने नियमों को बढ़ाता है जिसकी बड़ी और छोटी सिरायें दोनों ओर की हड्डियाँ और नेत्रों की हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देती है–शरीर को सम्यक् रूप से कृश करने वाला वह यति नित्य आत्मा में लीन रहता है। उक्त क्रम के अनुसार अभ्यास करने वाला अभ्यन्तर सल्लेखना करने पर संसार के त्याग का दृढ़ निश्चय करके सब तपों से उत्कृष्ट तप करता है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना का तात्पर्य यह है कि सल्लेखना सम्यक् मरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

मरण का स्वरूप–अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष के मिलने पर नाश होना मरण है।[2]

अथवा प्राणों के परित्याग का नाम, मरण है अथवा वर्तमान आयु से भिन्न आयु का उदय आने पर पूर्व आयु का विनाश होना, मरण है अथवा अनुभूयमान आयु नामक पुद्गल का आत्मा के साथ से विनष्ट होना मरण है। मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थ वाचक हैं।[3]

मरण के भेद–नित्य मरण और तद्भव मरण के भेद से मरण के मुख्य दो प्रकार हैं।[4] तथा इन्हीं के आवान्तर सतरह भेद हैं-

1. अवीचिमरण (नित्य), 2. तद्भवमरण, 3. अवधिमरण, 4. आदिअंत मरण, 5. बालमरण, 6. पण्डितमरण, 7. आसण्ण मरण, 8. बालपण्डितमरण, 9. सशल्यमरण, 10. बलायमरण, 11. वसट्टमरण, 12. विप्पाणसमरण, 13. गिद्धपुट्ठमरण, 14. भक्तप्रत्याख्यानमरण, 15. प्रायोपगमनमरण, 16. इंगिनीमरण, 17. केवलीमरण।[5] मरण के इन सतरह भेदों में से संक्षेप से पाँच ही मरण भगवती आराधना में कहें हैं जो निम्न है–1. पण्डितपण्डित मरण, 2. पण्डित मरण 3. बाल पण्डितमरण, 4. बाल मरण 5. बाल बाल मरण।[6]

पाँच मरणों के लक्षण -

1. बाल बाल मरण–मिथ्यादृष्टि जीव को बाल-बाल कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है

(1) भ. आ. वि. 246 (2) भ. आ. 258-262

कि मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण दर्शन बाल है तथा चारित्र से रहित होने के कारण चारित्र बाल भी है जो दर्शनबाल होता है वह ज्ञानबाल तो होता ही है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बाल बाल कहते हैं।

2. बाल मरण—जो सम्यग्दर्शन से युक्त तो है, परन्तु जिसके सम्यक्चारित्र नहीं हैं ऐसे अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बाल मरण कहते हैं।

3. बाल पण्डित मरण—देशव्रतों के धारक श्रावकों को बाल पण्डित कहते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा बाल नहीं है, पण्डित है, किन्तु उनका चारित्र तो अभी बाल ही है अर्थात् अणुव्रत रूप होने से अल्प ही है। ऐसे बाल पण्डित श्रावकों के मरण बाल पण्डित मरण कहते हैं।

4. पण्डित मरण—मुनिराज दर्शन की अपेक्षा भी बाल नहीं है और चारित्र की अपेक्षा भी बाल नहीं, अतः उन्हें पण्डित कहते हैं और उनके मरण को पण्डित मरण कहते हैं।

5. पण्डित पण्डित मरण—केवली भगवान को पण्डित पण्डित कहते हैं तथा उनके मरण को पण्डित पण्डित मरण कहते हैं।

मरण के पाँच भेदों के स्वामी—पण्डितपण्डितमरण क्षीणकषाय और अयोगकेवली का होता है। विरताविरत जीव तीसरे मरण से मरते हैं। शेष सभी मुनिराजों का पण्डित मरण होता है।[1]

अवरित सम्यग्दृष्टि बालमरण से मरते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव बालबाल मरण से मरते हैं।[2]

पंडितमरण—चारित्रवान् मुनियों का होता है इसके तीन भेद हैं—(1) प्रायोपगमन, (2) इंगिनी मरण, (3) भक्तप्रत्याख्यान[3]

1. प्रायोपगमन मरण—अपने और पर के उपकार की अपेक्षा रहित समाधिमरण को प्रायोपगमन मरण कहते हैं।

2. इंगिनी मरण—जिस संन्यास में अपने द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती हैं किन्तु

(1) भ. आ. 264-272 (2) स. सि. 7/22 (3) भ. आ. वि. 25 (4) रा. वा. 7/22
(5) भ. आ. वि. 25 (6) भ. आ. 26 उत्थानिका.

दूसरे के द्वारा किये गये वैय्यावृत्य आदि उपकार की अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इंगिनी मरण कहते हैं।

3. **भक्तप्रत्याख्यान**–जिस संन्यास में अपने और दूसरे दोनों के द्वारा किये गये उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

प्रायोपगमन मरण विधि–इसमें तृण के संस्तर का निषेध है, क्योंकि यहाँ स्व वा पर दोनों के प्रयोग का अर्थात् शुश्रूषा आदि का निषेध है। ये मुनि अपने मूत्र व विष्ठा तक का भी निराकरण न स्वयं करते हैं और न अन्य से कराते हैं। सचित्त, पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति व त्रस जीव निकायों में यदि किसी ने उनको फेंक दिया तो वे शरीर से ममत्व छोड़कर अपनी आयु समाप्ति होने तक वहाँ ही निश्चल रहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उनका अभिषेक करें या गंध पुष्पादि से उनकी पूजा करें तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनका निराकरण करते हैं। जिसके ऊपर इन मुनि ने अपना अंग रख दिया है, उस पर से यावज्जीव वे उस अंग को बिल्कुल हिलाते नहीं है। इस प्रकार स्व व पर दोनों के प्रतिकार से रहित मरण को प्रायोपगमनमरण कहते हैं। निश्चय से यद्यपि यह मरण अनीहार अर्थात् अचल है परन्तु उपसर्ग की अपेक्षा चल भी माना जाता हैं। उपसर्ग के वश होने पर अर्थात् किसी देव आदि के द्वारा उठाकर अन्यत्र ले जाये जाने पर स्वस्थान के अतिरिक्त यदि अन्य स्थान में मरण होता है तो उसको अनीहारप्रायोपगमन मरण कहतें है और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही होता है उसको अनीहार कहते हैं। कायोत्सर्ग को धारण कर कोई मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं और कोई दीर्घकाल तक उपवास कर इस मरण से शरीर का त्याग करते हैं।[2]

इंगिनी मरण विधि–अपने गण को साधु आचरण के योग्य बनाकर इंगिनी मरण साधने के लिए परिणत होता हुआ, पूर्व दोषों की आलोचना करता है तथा संघ का त्याग करने के पहले अपने स्थान में दूसरे आचार्य की स्थापना करता हैं। तत्पश्चात् बाल, वृद्ध आदि सभी गण से क्षमा के लिए प्रार्थना करता हैं। स्वगण से निकल कर अन्दर बाहर से समान ऊँचें व ठोस स्थंडिल का आश्रय लेता है। वह स्थंडिल निर्जन्तुक पृथ्वी या शिलामयी होना चाहिए। ग्राम आदि से याचना करके लाये हुए तृण उस पूर्वोक्त स्थंडिल पर यत्नपूर्वक बिछा कर संस्तर तैयार करे जिसका सिराहना पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रखें तदनन्तर अर्हन्त आदिकों के समीप

(1) भ. आ. वि. 27 (2) भ. आ. वि. 29 (3) भ. आ. वि. 28

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगे दोषों की आलोचना करके रत्नत्रय को शुद्ध करें। सम्पूर्ण आहारों के विकल्पों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का यावज्जीवन त्याग करें। कायोत्सर्ग से खड़े होकर अथवा बैठकर अथवा लेटकर एक करवट पर पड़े हुए वे मुनिराज स्वयं ही अपने शरीर की क्रिया करते हैं। शौच वा प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ स्वयं ही करते हैं। जगत् के सम्पूर्ण पुद्गल दुःखरूप या सुख रूप परिणमित होकर उनको दुःखी सुखी करने को उद्यत होवें तो भी उनका मन ध्यान से च्युत नहीं होता। वे मुनि वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इन सभी का त्याग करके सूत्रार्थ का अनुप्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं। इस प्रकार आठों प्रहरों में निद्रा का परित्याग करके वे एकाग्र मन से तत्त्वों का विचार करते हैं। यदि बलात् निद्रा आ गयी तो निद्रा लेते हैं। स्वाध्याय काल और शुद्धि ...... क्रियाएँ उनको नहीं है। श्मशान में भी ध्यान करना निषिद्ध नहीं हैं। यथाकाल षडावश्यक कर्म नियमित रूप से करते हैं। सूर्योदय व सूर्यास्त में प्रयत्न पूर्वक उपकरणों की प्रतिलेखना करते हैं। पैरों में काँटा चुभनें और नेत्र में रजकण पड़ जाने पर वे उसे स्वयं निकालते। दूसरों के द्वारा निकाला जाने पर मौन धारण करते हैं। तप के प्रभाव सें प्रगटी वैक्रियकि आदि ऋद्धियों का उपयोग नहीं करते। मौन पूर्वक रहते हैं। रोगादिकों का प्रतिकार नहीं करते। किन्हीं आचार्यों के अनुसार वे कदाचित् उपदेश भी देते हैं।[1]

साधुओं के लिए भक्तप्रत्याख्यान की सामान्य विधि–संक्षेप से प्रत्याख्यान करने वाला ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं सर्वप्रथम हिंसादि पाँचो पापों का त्याग करता हूँ। मेरे सब जीवों में समता भाव है, किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है इसलिए मैं सर्व आकांक्षाओं को छोड़कर समाधि (शुद्ध) परिणामों को प्राप्त होता हूँ। मैं सब अन्न-पान आदि आहार की अवधि को, आहार संज्ञा को, सम्पूर्ण आशाओं का, कषायों का और सर्व पदार्थों में ममत्व भाव का त्याग करता हूँ।[2]

विशेषार्थ–भक्तप्रत्याख्यान प्रतिज्ञा निर्यापकाचार्य की आज्ञा से यथावसर शुभ दिन, नक्षत्र, तिथि में लेना चाहिए। जिस दिन मुनि, आर्यिका श्रावक श्राविका आदि जो भी भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं इस कार्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिए श्रावकों को, शान्ति विधान या गणधर

---

(1) आत्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम्। आत्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम्। आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति। (ध.1/1/24-25)

(2) भ. आ. 2058-2065

वलय विधान अथवा अन्य कोई भी विधान करना चाहिए। उस दिन भक्तप्रत्याख्यान ग्रहण करने वाले मुनि, आर्यिका आदि को नवीन उपकरण भेंट करना चाहिए। उनके पाद प्रक्षालन, पूजन व आरती करनी चाहिए। आर्यिकाओं आदि को नवीन वस्त्र भेंट करना चाहिए। ऐसा गुरूओं का उपदेश है।

समर्थ श्रावकों की भक्तप्रत्याख्यान विधि–सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक शीत-उष्ण में हर्ष-विषाद न करें, स्नेह को छोड़, वैर को छोड़े परिग्रह का त्याग कर शुद्ध होता प्रिय वचनों से अपने कुटुंबियों से और चाकरों से भी क्षमा करावें। आप भी सबको क्षमा करें। छल-कपट रहित और कृत कारित अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापों की आलोचना करके मरण पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करें। शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति को त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रकट करके संसार के दुःख रूपी संताप को दूर करने वाले अमृत रूपी शास्त्रों के श्रवण से मन को प्रसन्न करें। क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध व छाछ को बढ़ावें। उष्ण जलपान का भी त्याग करके और शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्र को धारण करता हुआ शरीर को छोड़ें।[1]

असमर्थ श्रावकों की भक्तप्रत्याख्यान विधि– यदि असमर्थ हो तो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप में मन-वचन-काय से अपनी भली प्रकार से आलोचना करके पानक के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का (खाद्य, स्वाद और लेह्य का) त्याग करता है उसे उपासकाध्ययन सूत्र में सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत कहा है।[2]

व्याधि आदि की अपेक्षा से समाधि में निश्चल होने के लिये उस क्षपक को गुरु की आज्ञानुसार केवल पानी पीने की प्रतिज्ञा रख लेना चाहिये और मृत्यु का समय निकट आने पर जब शरीर की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाय तब उसे जल का भी त्याग कर देना चाहिये।[3]

मृत्यु का संशय या निश्चय होने की अपेक्षा भक्तप्रत्याख्यान विधि–जीवन में सन्देह होने की अवस्था में ऐसा विचार करें कि इस देश में इस काल में मेरा जीने का सद्भाव रहेगा तो जब तक उपसर्ग रहेगा तब तक आहारादिक का त्याग है उपसर्ग दूर होने के पश्चात् यदि जीवित रहा तो फिर पारणा करूँगा। अन्यथा जीवन की आशा न रहने पर मैं जल को छोड़कर

(1) भ. आ. 2026-2054 (2) मू. आ. 109-111

अन्य तीन प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ बाह्य तथा अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को तथा मन वचन काय की पाप क्रियाओं को एवं जो कुछ मेरे बाह्य तथा आभ्यंतर परिग्रह है उसे तथा चारों प्रकार के आहारों को और अपने शरीर को यावज्जीवन छोड़ता हूँ यही उत्तमार्थ त्याग है।[4]

प्रकारान्तर से सल्लेखना की विधि–क्रम से आहार को कम करते हुए शरीर को कृश करता है और एक-एक दिन ग्रहण किए तप से, एक-एक दिन अनशन, एक दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस प्रकार सल्लेखना को करता है। नाना प्रकार की रस रहित भोजन, अल्प भोजन, सूखा भोजन, आचाम्ल भोजन आदि से और नाना प्रकार के उग्र नियमों से दोनों प्रकार के संयमों को नष्ट न करता हुआ यति अपने बल के अनुसार देह को कृश करता है।[1]

निर्यापक की उपलब्धि होने पर सल्लेखना–जिस मुनीश्वर का चारित्रपालन सुखपूर्वक व निरतिचार हो रहा है तथा जिसका निर्यापक भी सुलभ हो और जिसे दुर्भिक्ष आदि का भी भय न हो ऐसा मुनीश्वर यद्यपि भक्तप्रत्याख्यान के अयोग्य है। तो भी इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करता और आगे यदि निर्यापकाचार्य कदाचित् न मिले तो पंडितमरण न साध सकूँगा ऐसा जिसको भय हो तो वह मुनि भक्त- प्रत्याख्यान के योग्य ही है।[2]

योग्य कारणों के अभाव में सल्लेखना धारने का निषेध– पूर्व में कहे गये सर्व भयों के उपस्थित न होने पर भी तो मुनि मरण की इच्छा करता है, वह मुनि चारित्र से विरक्त है ऐसा समझना चाहिए।[3]

प्रायोपगमनादि तीनों के योग्य द्रव्य (संहनन), काल व क्षेत्र–भक्तप्रत्याख्यान मरण ही इस काल में उपयुक्त है। इतर दो अर्थात् इंगिनी व प्रायोपगमनमरण विशेष संहनन वालों के ही होते हैं। वज्रवृषभ आदि शुभ संहनन इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र के मनुष्यों में नहीं होते हैं।[4]

पंडित मरण के तीन भेद

	प्रायोपगमन	इंगनी	भक्तप्रत्या.
लक्षण	स्व-पर उपकार की अपेक्षा रहित	स्वोपकार सापेक्ष परोपरकार निरपेक्ष	स्व. परोपकार सापेक्ष

(1) र. क. श्रा. टी. 124-128 (2) वसु. श्रा. 271-272 (3) सा. ध. 8/66 (4) मू. आ. 112-114

काल	चतुर्थ काल	चतुर्थ काल	चतुर्थ, पंचम काल
क्षेत्र	भरत, ऐरावत, विदेह	भरत, ऐरा., विदे.	भरत, ऐरा., विदे. तिर्यचों की अपेक्षा स्वयंभूरमण द्वीप-ससुद्र में भी
संहनन	आदि के 3	आदि के 3	सभी संहनन वालों के

विशेषार्थ–भक्तप्रत्याख्यान मुख्यतः मुनि को ही होता है क्योंकि प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान ये तीनों मरण पंडित मरण के ही भेद हैं। यथा –

पायोपगमण मरणं भत्त पइण्णा च इंगणी चेव।
तिविहं पंडित मरणं साहुस्स जहुत्त चारिस्स।।[1]

अर्थात् सम्यक् चारित्र से युक्त मुनि के ही पंडित मरण होता है तथा वह मरण प्रायोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान के भेद से तीन प्रकार का हैं।

शंका : पंडित मरण किसके होता है?

समाधान : श्रुत (आगम) में जिस प्रकार से कहा गया है, उसी प्रकार से आचरणशील साधु के होता है।

शंका : सभी सदाचारशील मनुष्य वे संयमी हों या असंयमी लोक में साधु शब्द से कहे जाते हैं।

समाधान : इसीलिए यहाँ संयमी साधु को ग्रहण करने के लिये यथोक्तचारी (आचरणशील) विशेषण दिया है।

तात्पर्य यह है कि भक्तप्रत्याख्यान एक मात्र मुनि को ही होता है क्योंकि यह पंडित मरण क़ा भेद है भगवती आराधना में मुख्यतः पाँच मरणों के स्वामियों का निम्न प्रकार से वर्णन है।

पंडित-पंडित मरण के स्वामी–क्षीणकषायी केवली हैं। पंडित मरण के स्वामी–निर्ग्रन्थ मुनि हैं। वाल पंडित मरण के स्वामी–देशव्रती श्रावक हैं। बाल मरण के स्वामी–अविरत सम्यग्दृष्टि हैं। वाल-वाल मरण के स्वामी मिथ्यादृष्टि ही हैं।

(1) भ. आ. 249-250 (2) भ. आ. वि. 74 (3) भ. आ. 75 (4) भ. आ. वि. 63

अत: सिद्ध है कि पंडित या भक्तप्रत्याख्यान मरण एकमात्र मुनि के ही होता है।

शंका : यद्यपि भक्त-प्रत्याख्यान एकमात्र मुनि को ही होता है फिर भगवती आराधना में ही अपेक्षाकृत दृष्टि से व्रती और अव्रती दोनों को माना गया है। यथा: **''भत्त पइण्णाए होदि विरदो अवरिदो वा।''** (भ. आ. गा. 73) अर्थात् व्रती व अव्रती दोनों सम्यग्दृष्टियों के भक्तप्रत्याख्यान मरण होता है जबकि गाथा 29 में कहा था कि -

''अविरुद्ध सम्मादिट्ठी मरंति बाल मरणे चउत्थो।''

अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे बाल मरण से मरता है। अत: उपरोक्त ये दोनों प्रमाण परस्पर में बाधित होते हैं?

समाधान : यद्यपि भक्तप्रत्याख्यान एकमात्र मुनि के ही होता है। किसी भी देशव्रती व अविरत सम्यग्दृष्टि के नहीं, फिर भी देशव्रती या अविरत सम्यग्दृष्टि के भक्तप्रत्याख्यान का जो प्रमाण आया है वह उपचार मात्र या व्यवहार नय से ही जानना चाहिए, मुख्य रूप से नहीं, क्योंकि देशव्रती या अविरत सम्यग्दृष्टि में भी मरण काल में भक्त (भोजन का) प्रत्याख्यान (त्याग सम्भव है अत: उपचार से भक्तप्रत्याख्यान तो है किन्तु वह त्याग अभी भक्तप्रत्याख्यान संज्ञा को प्राप्त नहीं हो पाता है। जैसे: दर्शनमोह की 1 या 3 प्रकृतियों के साथ अनंतानुबंधी चतुष्क के उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम से भी सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है, फिर भी वह चारित्र, चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है, उसे पाँच संयम (चारित्र) व एकदेश संयम में नहीं गिनाया जा सकता हैं, क्योंकि कहा है कि **''चारितं णत्थिजदो अविरद अंतेसु ठांणेसु''** अत: उपचार है, उसी प्रकार देशव्रती या अविरत सम्यग्दृष्टि के भक्तप्रत्याख्यान को भी उपचार रूप से ही समझना चाहिए।

विजयोदया टीका में–पंडित के चार भेदों का वर्णन है, यथा–

1. व्यवहार पण्डित– जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण है वह व्यवहार पण्डित है। अथवा जो अनेक शास्त्रों का ज्ञाता है सेवा आदि बौद्धिक गुणों से युक्त है वह व्यवहार पंडित है।

2. दर्शन पण्डित–जो क्षायिक, क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्शन से (यथोचित्)

(1) भ. आ. 28

युक्त है वह दर्शन पण्डित है।

3. ज्ञान पण्डित–जो मति आदि पाँच प्रकार के सम्यग्ज्ञानों से (यथोयोग्य) परिणत है वह ज्ञान पण्डित है, इनमें से मति, श्रुत, अवधि, ज्ञान पण्डित मरण चारों गतियों में होता है। किन्तु केवलज्ञान और मनः पर्ययज्ञान (रूप) पंडित मरण मनुष्य लोक में ही होता है।

4. चारित्र पण्डित–जो सामायिक, छेदोस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र में से किसी चारित्र का पालक है वह चारित्र पण्डित है।

यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र पण्डितों का अधिकार है। व्यवहार पण्डित का तो बालमरण होता है और दर्शनपण्डित सम्यग्दृष्टि का भी मरण बाल मरण है। दर्शन पण्डित मरण का अवस्थान–वह दर्शन पण्डित मरण नरक में तथा चतुर्णिकाय देवों में और द्वीप समुद्रों में होता है। (भ. आ. 25, पृ 54–55) इससे सिद्ध है कि चारित्र पण्डित एकमात्र मुनियों के होता है किन्तु व्यवहार, दर्शन, ज्ञान आदि पंडित मरण देशव्रती या अविरत सम्यग्दृष्टि को भी हो सकता है तथा सम्यक्त्व पण्डित मरण–देव आदि भी कर सकते हैं, इससे यह भी सिद्ध है कि आदि पुराण में वर्णित श्रीमती के जीव ने प्रीतिंकर देव की पर्याय में सम्यक्त्व सहित समाधिमरण किया था। (आ. पु. प. 6 श्लो. 56, 57) पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ये सब औपचारिक कथन हैं।

भक्तप्रत्याख्यान के भेद–भक्तप्रत्याख्यान विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार की हैं।[1] सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार की हैं।[2]

जघन्य आदि भेदों का काल–भक्त प्रतिज्ञा अर्थात् भोजन की प्रतिज्ञा कर जो संन्यास मरण हो उसके काल का प्रमाण जघन्य (कम से कम) अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट बारह वर्ष है तथा मध्यम के भेदों का काल एक-एक समय बढ़ता हुआ है उसका अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष के भीतर जितने भेद हैं उतना प्रमाण है।[3] उत्कृष्ट काल का विभाग इस प्रकार है- कुल 12 वर्ष मात्र -

4 वर्ष कायक्लेश तप करते हुये बितावें।
4 वर्ष रसपरित्याग के क्रम से बितावें।
2 वर्ष आचाम्ल, निर्विकृति भोजन करते हुये बितावें।
1 वर्ष मात्र आचाम्ल भोजन में।

6 माह मध्यम उपवासादि तप करते हुये बितावें।

6 माह उत्कृष्ट तपादि करके अपनी अंतिम भावनाओं को सार्थक करें।[4]

उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य भक्तप्रत्याख्यान का फल–प्रत्याख्यान की उत्कृष्ट आराधना का पालन कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। सम्पूर्ण कर्म क्लेश से मुक्त होकर लोकाग्र शिखरवासी सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।[1] उसी भक्तप्रत्याख्यान की मध्यम आराधना का पालन कर शरीर त्याग करने वाले मुनिराज विशुद्ध लेश्या को धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्या के स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पालने में पूर्ण दक्ष, उत्कृष्ट तप-ध्यान वगैरह नियमों के धारक, ईर्यापथ को जिन्होंने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पवासी देवत्व की प्राप्ति योग्य शुभास्रव को जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम (लौकान्तिक) देव होते हैं अर्थात् मरकर नवग्रैवेयक और अनुदिश विमानों में रहने वाले देव हो जाते हैं।[2] तेजो लेश्या के धारक ऐसे क्षपक की भक्तप्रत्याख्यान आराधना को जघन्य आराधना कहते हैं। इस आराधना के आराधक क्षपक सौधर्मादिक स्वर्गों में देव होते हैं। इन देवों से हीन देवों में इनका जन्म नहीं होता।[3]

(1) सविचार भक्तप्रत्याख्यान–जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह व बलयुक्त है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है अर्थात् जिसका मरण दीर्घकाल के अनन्तर प्राप्त होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं। जिस मुनि का मरण काल सहसा निकट नहीं है दीर्घकाल में होगा ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं। इसके अर्हलिंग आदि 40 अधिकार हैं।[4]

(2) अविचार भक्तप्रत्यख्यान–जिसको सामर्थ्य नहीं है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुआ है, ऐसे पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।[5]

पराक्रम रहित मुनि के सहसा मरण उपस्थित होने पर अविचार भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है।

---

(1) भक्तप्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यम भेदात्। (ध. 1,1,1/24/1)

(2) द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यानं। सविचारमथ अविचारं इति। (भ. आ. वि. 64)

(3) भत्तपइण्णायविही जहण्ण मंतोमुहुत्तयं होदि।
बारस वरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया।। (गो. सा. क. 60)

(4) भ. आ. 255-256

अविचार भक्तप्रत्याख्यान तीन भेद हैं–(1) निरूद्ध, (2) निरूद्धतर, (3) परम निरूद्ध।

निरूद्ध भक्तप्रत्याख्यान–रोगादि के कारण जिसका जंघा बल क्षीण हो गया, जो परगण में जाने को समर्थ नहीं है वह मुनि अविचार भक्तप्रत्याख्यान करते हैं वे स्वगण में रहते हुये ही सविचार भक्त- प्रत्याख्यान में कही गई सम्पूर्ण विधि का यथाक्रम पालन करते हैं।[6] इसके भी भेद हैं :

1. **प्रकाश**–जो अन्य जनों द्वारा जाना जाय वह प्रकाश रूप है।

2. **अप्रकाश**–जो दूसरे या अन्य जनों द्वारा न जाना जाय वह अप्रकाश रूप है।[1]

क्षपक मनोबल, धैर्य, क्षेत्र, काल और अपने बांधव आदि कारणों का विचार कर अनुकूलता होने पर प्रकट किया जाता है और प्रतिकूलता होने पर प्रकट नहीं किया जाता है। जो अन्य जनों द्वारा जाना जाता है तब उसे प्रकाश कहते हैं प्रकट न होने पर अप्रकाश कहा जाता है।

निरूद्धतर भक्तप्रत्याख्यान–सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा, तीव्र शूल, रोग इत्यादि से तत्काल मरण का प्रसंग होने पर जब तक वचन तथा काय बल शेष रहता है जब तक तीव्र वेदना से चित्त संक्लेशित नहीं हुआ है। तब तक अपनी आयु को प्रतिक्षण क्षीण होता जान शीघ्र ही अपने गण के आचार्य आदि के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना करना निरूद्धतर भक्त प्रत्यख्यान है।

परम निरूद्ध भक्तप्रत्याख्यान–व्याघ्रादि उपरोक्त कारणों से पीड़ित मुनि के शरीर एवं वचन वल के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर परम निरूद्ध मरण को प्राप्त होते हैं अपनी आयु शीघ्र ही क्षीण होता जान वह मुनि शीघ्र ही मन में अर्हंत या सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना का तत्पश्चात् यथावसर सविचार भक्तप्रत्याख्यान विधि को यथोयोग्य धारण करना परम निरूद्ध भक्त–प्रत्याख्यान है।''[2]

सविचार भक्तप्रत्याख्यान विधि–''सविचार भक्तप्रत्याख्यान के वर्णन करने में चालीस सूत्र या अधिकार जानने चाहिये। जो इस प्रकार है- 1. अर्ह, 2. लिंग, 3. शिक्षा, 4. विनय, 5. समाधि, 6. अनियत विहार, 7. परिणाम, 8. उपधि त्याग, 9. श्रिति, 10. भावना, 11. सल्लेखना,

---

(1) भ. आ. 1923 (2) भ. आ. 1927-1928 (3) भ. आ. 1934 (4) भ. आ. वि. 64/65 (5) भ. आ. वि. 64 (6) भ. आ. 2005-2008

12. दिशा, 13. क्षमणा, 14. अनुशिष्टि, 15. परगणचर्या, 16. मार्गण, 17. सुस्थित, 18. उपसंपद, 19 परीक्षा, 20. प्रतिलेखन या निरूपण, 21. पृच्छा, 22. एक संग्रह, 23. आलोचना, 24, गुण-दोष, 25. शय्या, 26. संस्तर, 27. निर्यापक, 28. प्रकाशन, 29. हानि, 30. प्रत्याख्यान, 31. क्षमण, 32. क्षपणा, 33. अनुशिष्टि, 34. सारणा, 35. कवच, 36. समता, 37. ध्यान, 38. फल तथा 40. शरीर त्याग।[3]

इन 40 अधिकारों का विवेचन इस प्रकार है–

1. अर्ह अधिकार

अर्ह–अर्ह का अर्थ योग्य (पात्र) है।[1]

भक्त-प्रत्याख्यान के योग्य अवसर–जिसके दुष्साध्य व्याधि हो अथवा श्रामण्य के सम्बन्ध को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था हो अथवा देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत उपसर्ग हो वह भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य हैं। अनुकूल बन्धु, मित्र, शत्रु हो जो चारित्र का विनाश करने वाले हों। भयंकर दुर्भिक्ष हो अथवा भयंकर जंगल में भटक गया हो तो भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता हे। जिसकी चक्षु दुर्बल हो अथवा जिसके श्रोत्र दुर्बल हो तो, जंघाबल से हीन हो अथवा विहार करने में समर्थ न हो। उक्त कारण के समान अन्य भी, प्रबल कारण उपस्थित होने पर विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यान के योग्य होता है।[2]

2. लिंग अधिकार

लिंग–लिंग शब्द यहाँ चिह्न का वाचक है।[3]

लिंग के भेद–उत्सर्ग और अपवाद के भेद के गुणों से दो प्रकार का लिंग यहाँ विवक्षित हैं।

उत्सर्ग लिंग–सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना उत्सर्ग है। सम्पूर्ण परिग्रहों का जब त्याग होता है उस समय जो चिह्न मुनि धारण कर रहे हैं उसको औत्सर्गिक कहते हैं अर्थात् नग्नता को औत्सर्गिक लिंग कहते हैं।[4]

(1) भ. आ. 2010 (2) भ. आ. 2011-2018 (3) भ. आ. 66-69

उत्सर्ग लिंग के गुण–उत्सर्ग लिंग में चार गुण होते हैं। ये हैं–वस्त्रों का त्याग अर्थात् नग्नता, लोच (हाथ से केश उखाड़ना), शरीर से ममत्व त्याग, प्रतिलेखन प्राणी दया का चिह्न मयूर पिच्छिका हाथ में ग्रहण करना।[5]

अपवाद लिंग–मुनियों के अपवाद का कारण होने से परिग्रह को अपवाद कहते हैं। जिसके अपवाद हो वह अपवादिक है अर्थात् परिग्रह सहित सहित लिंगवाला अपवादिक लिंगी होता है वह यदि भक्त-प्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रह को त्याग कर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है। इस लिंग धारण करने पर नग्न होना पड़ता है, किन्तु उसके सम्बन्ध में यह नियम है कि उसका लिंग-पुरुष चिह्न प्रशस्त होना चाहिए। लिंग का चर्मरहित होना, अतिदीर्घ होना, स्थूल होना, स्थूल वृषण होना दोष है, इन दोषों से रहित होने पर ही औत्सर्गिक लिंग दिया जाता है। यहाँ लिंग शब्द से पुरुष, चिह्न का ग्रहण किया है।[1]

जिसके भी लिंग और दोनों अंडकोष इन तीन स्थानों में ऐसा दोष है जिसे औषध आदि से भी दूर नहीं किया जा सकता है वह वसतिका में संस्तर पर आरूढ़ होने पर ही औत्सर्गिक लिंग को (अवश्य) ग्रहण करें।[2]

अपवाद लिंग के योग्य–जो प्रतिष्ठित धन सम्पन्न है या जिन्हें सबके सामने लज्जा लगती है या जिनका परिवार विधर्मी है उन्हें सार्वजनिक स्थान में नग्न लिंग नहीं देना चाहिये। सवस्त्र लिंग ही उनके योग्य है।[3]

अपवाद लिंग की शुद्धि–अपवाद लिंग में स्थित भी कर्ममल को दूर करके शुद्ध होता है। किस प्रकार होता है? अपनी शक्ति को न छिपाकर मन-वचन-काय से परिग्रह का त्याग करने पर होता है। तथा समस्त परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है, मुझ पापी ने परीषह से डरकर वस्त्र, पात्र आदि परिग्रह स्वीकार किया। इस प्रकार के अन्तः सन्ताप को निन्दा, कहते हैं। दूसरों से ऐसा कहना गर्हा है। उनसे युक्त होने पर अर्थात् अपनी निन्दा गर्हा करने पर शुद्ध होता है।[4]

स्त्रियों के भी उत्सर्ग लिंग सम्भव–परमागम में स्त्रियों अर्थात् अर्यिकाओं का और

---

(1) भ. आ. वि. 66 (2) भ. आ. 70-73 (3) भ. आ. वि. 66 (4) भ. आ. वि. 76 (5) भ. आ. 79

श्राविकाओं का जो उत्सर्ग लिंग अपवाद लिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यान के समय समझना चाहिये अर्थात् आर्यिकाओं का भक्तप्रत्याख्यान के समय उत्सर्ग लिंग विविक्त (एकांत और मात्र आर्यिका समूह के मध्य) स्थानों में होना चाहिये। परन्तु श्राविका सम्पति वाली लज्जावती हो उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवाद लिंग धारण करें अर्थात् पूर्व वेष में ही मरण तथा जिस श्राविका ने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिका में उत्सर्ग लिंग धारण कर सकती है।

प्रश्न—स्त्रियों के उत्सर्ग लिंग कैसे सम्भव है?

उत्तर—परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग लिंग होता है।[5]

लिंग के गुण—लिंग ग्रहण का एक गुण परिग्रह का त्याग है। दूसरा गुण लाघव है क्योंकि परिग्रहवान् ऐसा होता है मानो छाती पर पहाड़ रखा है। कैसे अन्य चोर आदि से इस परिग्रह की रक्षा करूँ, इस प्रकार चित्त से बड़े भारी खेद के चले जाने से लाघव होता है जो वस्त्र सहित मुनि लिंग धारण करते हैं, उन्हें वस्त्रों आदि का शोधन करना पड़ता है किन्तु वस्त्र रहित साधु को तो केवल पीछी आदि का ही शोधन करना होता है। अतः अप्रतिलेखना भी एक गुण है। वस्त्रधारी को माँगना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करने होते हैं जिनसे स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न होता है। किन्तु वस्त्र रहित साधु के ये सब नहीं होता, अतः परिकर्म न होना भी एक गुण है। जिसका चित्त भय से व्याकुल रहता है वह रत्नत्रय के साधन में उद्योग नहीं करता। अतः परिग्रह के त्याग से भय नहीं रहता। तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रों में जूँ, लीख आदि सम्मूर्छन जीवों का बचाव नहीं कर सकता। किन्तु वस्त्र रहित साधु इनसे बचा रहता है अतः परिहार भी एक गुण है। तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डाँस मच्छर आदि की परीषह को जीतता है। जो वस्त्र ओढ़े हैं उसे शीतादि की बाधा नहीं होती। तब उसको सहना रूप परीषहजय कैसे संभव है?

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि पूर्वग्रहीत कर्मों की निर्जरा के लिये परीषहों को सहना चाहिये।[2]

वस्त्र रहित रूप जनता में विश्वास पैदा करने वाला होता है, विषय से होने वाले शारीरिक सुख में अनादर भाव होता है सर्वत्र स्वाधीनता रहती है और परीषह को सहना होता है।[1]

---

(1) भ. आ. वि. 76 (2) भ. आ. 77 (3) भ. आ. वि. 78 (4) भ. आ. वि. 86 (5) भ. आ. वि. 80

3. शिक्षा अधिकार

शिक्षा–निपुण, विपुल, शुद्ध, अर्थ से पूर्ण सर्वोत्कृष्ट और सब प्राणियों का हित करने वाला द्रव्यकर्म, भाव कर्मरूपी मल का नाशक जिनवचन रात–दिन पढ़ना चाहिये। स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान होता है। भाव संवर होता है नवीन–नवीन संवेग होता है रत्नत्रय में निश्चलता होती है। स्वाध्याय तप होता है और गुप्तियों की भावना होती है। और दूसरों को उपदेश करने की क्षमता होती है। ज्ञान के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव आदि सब पदार्थ तथ्यभूत जाने जाते हैं उसी प्रकार से इसलोक और परलोक में अहित और हित जाना जाता है। आत्मा के हित को न जानने वाला मोहित होता है। मोहित हुआ कर्म को ग्रहण करता है। और कर्म का निमित्त पाकर जीव अनन्त भवसागर में भ्रमण करता है।[2]

आत्महित को जानने वाले के अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है। हिताहित के ज्ञान के पश्चात् उसका हिताहित भी जानता ही है। इसलिए आतमहित को आगम से सीखना चाहिए। विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत्त और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है। जैसे–जैसे अतिशय अभिधेय से भरा, जिसे पहले कभी नहीं सुना ऐसे श्रुत को अवगाहन करता है, तैसे–तैसे नई–नई धर्मश्रद्धा से आह्लाद युक्त होता है। वृद्धि और हानि के क्रम को जानने वाला श्रद्धान, ज्ञान, तप और संयम में स्थित होकर शुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीवन पर्यन्त विहार करता है, निष्कम्प अर्थात् निश्चल ही है। सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर और वाह्यभेद सहित बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान तपक्रिया नहीं है और न होगी। सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जिस कर्म को लाख करोड़ भवों में नष्ट करता है उसे कर्म को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियों से युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्त मात्र में क्षय करता है।[1]

अज्ञानी के दो, तीन, चार पाँच आदि उपवास करने से जितनी विशुद्धि होती है उससे बहुत गुणी विशुद्धि जीमते हुए ज्ञानी के होती है। स्वाध्याय भावना से सब गुप्तियाँ भावित होती है। और गुप्तियों की भावना से मरते समय रत्नत्रय रूप परिणामों की आराधना में तत्पर होता है।[2]

अपने और दूसरों के उद्धार के उपदेश से जो स्वाध्याय में लगता है वह अपने भी कर्मों को काटता है और उसमें उपयुक्त दूसरों के भी कर्मों को काटता है। सर्वज्ञ भगवान की जो आज्ञा है कि कल्याण के इच्छुक जिन शासन के प्रेमी को नियम से धर्मोपदेश करना चाहिये

---

(2) भ. आ. वि. 82 (1) भ. आ. 83 (2) भ. आ. 98–101

उसका भी पालन होता है। दूसरों को उपदेश करने पर वात्सल्य और प्रभावना होती है। जिन वचन के अभ्यास से जिन वचन में भक्ति प्रदर्शित होती है। दूसरों को उपदेश करने पर मोक्षमार्ग अथवा श्रुतरूप तीर्थ की अव्युच्छिति–परम्परा का अविनाश होता है। श्रुत भी रत्नत्रय के कथन में संलग्न होने से तीर्थ है। अत: स्वाध्याय पूर्वक परोपदेश करने से श्रुत और मोक्षमार्ग का विच्छेद नहीं होता वे सदा प्रवर्तित रहते है।[3]

4. विनय अधिकार

विनय–मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि में तथा उनके साधक गुरु आदि में अपनी योग्य रीति से सत्कार-आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय है।[4] गुण वृद्ध पुरुषों के प्रति नम्र वृत्ति का रखना विनय है।[1]

मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप के दोष दूर करने के लिए जो कुछ प्रयत्न करते हैं, उसको विनय कहते हैं।[2]

विनय के पाँच भेद हैं–(1) दर्शन विनय, (2) ज्ञान विनय, (3) चारित्र विनय, (4) तप विनय, (5) उपचार विनय।[3] ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार के भेद से विनय के चार भेद हैं।[4]

दर्शन विनय–शंकादि दोषों से रहित तत्वार्थ का श्रद्धान करना दर्शन विनय है।[5]

उपगूहन आदि सम्यग्दर्शन के अंगों का पालन, भक्ति–पूजा आदि गुणों का धारण तथा शंकादि दोषों के त्याग को सम्यक्त्व विनय या दर्शन विनय कहते हैं।[6]

अरहंत, सिद्ध, इनकी प्रतिमाएँ, श्रुतज्ञान, जिनधर्म, आचार्य, उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शन में भक्ति-पूजा आदि करना इनका महत्त्व बताना, अन्य मतियों द्वारा आरोपित किये गये अवर्णवाद को हटाना, इनके आसादन का परिहार करना यह दर्शन विनय है।[7]

ज्ञान विनय–आलस्य रहित हो देश कालादि की विशुद्धि के अनुसार शुद्ध चित्त से बहुमानपूर्वक यथाशक्ति मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना ज्ञान विनय है।[8]

---

(1) भ. आ. 102-107 (2) भ. आ. 108-109 (3) भ. आ. वि. 110 (4) रा. वा. 6/24

ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदिक में तथा ज्ञानवंत पुरुष में भक्ति के साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है वह ज्ञान विनय है।[9]

चारित्र विनय–इन्द्रिय और कषाय रूप से आत्मा की परिणति न होना और गुप्तियाँ और समितियाँ यह संक्षेप से चारित्र विनय है।[10]

ज्ञान और दर्शन शाली पुरुष के पाँच प्रकार के दुष्कर चारित्र का वर्णन सुनकर रोमांच आदि के द्वारा अन्तभक्ति प्रकट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अंजलि रखकर आदर प्रकट करना और उसका भावपूर्वक अनुष्ठान करना चारित्र विनय है।[11]

परमागम में पाँच प्रकार का चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारक हैं, उनके विषय में वर्णन किया गया है, उसके आदर सत्कार को चारित्र विनय जानना चाहिए।[1]

तप विनय–संयम रुप उत्तरगुणों में उद्यम करना, सम्यक् प्रकार श्रम व परीषहों को सहन करना, यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं में हानि- वृद्धि न होने देना, तप में तथा तप करने में अपने से जो ऊँचा है उसमें, भक्ति करना तप विनय है। उनके अतिरिक्त जो छोटे तपस्वी हैं उनकी तथा चारित्रधारी मुनियों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए यह सब तप विनय है।[2]

यह बालक है, यह वृद्ध है इस प्रकार का संकल्प छोड़कर तपस्वी जनों का जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वन्दन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए।[3]

उपचार विनय–आचार्य आदि के समक्ष आने पर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है तथा उनके परोक्ष में भी काय, वचन और मन से नमस्कार करना, गुणों का कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचार विनय है।[4]

उपचार विनय के भेद–उपचार विनय तीन प्रकार की है कायिक, वाचनिक और मानसिक ये तीनों प्रकार की विनय दो प्रकारों में विभक्त है प्रत्यक्ष विनय और परोक्ष विनय।

कायिक विनय–गुरु आदि के प्रवेश करने पर या बाहर जाने पर अभ्युत्थान खड़े होना, कृतिकर्म अर्थात् वन्दना करना, शरीर को नम्र करना, दोनों हाथों को जोड़ना, सिर को नवाना, प्रत्युद्गमन अर्थात् गुरु के बैठने अथवा खड़े होने पर उनके सामने जाना और जब गुरु जावें

---

(1) गुणाधिकेपु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। क. पा. 1/1-1/90/117/2

(2) सा. धा. 7/35 (3) भ. आ. 111 (4) त. सू. 9/23 (5) रा. वा. 9/23 (6) भ. आ. 113

(7) भ. आ. 45-46 (8) रा. वा. 9/23 (9) वसु. आ. 322 (10) भ. आ. 114 (11) रा. वा. 9/23

तो उनसे दूर रहते हुए हाथ पैर को शान्त और शरीर को नम्र करके गमन करना और गुरु के साथ जाने पर उनके पीछे अपने शरीर प्रमाण भूमिभाग का अन्तराल देकर गमन करें।[5]

गुरु आदि के शरीर के अनुकूल स्पर्शन (हाथ पैर दबाना आदि), बालपने आदि अवस्था के अनुरूप वैय्यावृत्य करना गुरु आदि की आज्ञा का पालन करना, तृण आदि का संथरा करना, उपकरणों की प्रतिलेखना करना। इस प्रकार को आदि लेकर उपचार विनय शरीर के द्वारा साधुवर्ग में यथा योग्य की जाती है। यह कायिक विनय है।[6]

वाचनिक विनय–पूजा पूर्वक वचन, हितकारी भाषण, मित भाषण, मधुर भाषण, सूत्रानुसार वचन, अनिष्ठुर और अकर्कश वचन वचनविनय है। उपशान्त वचन, जो वचन गृहस्थों के योग्य नहीं है, कृषि आदि आरम्भ से शून्य वचन, दूसरों की अवज्ञा न करने वाला वचन बोलना यह यथायोग्य वाचनिक विनय है।[1]

मानसिक विनय–पाप को लाने वाले परिणामों को न करना, जो गुरु को प्रिय और हितकार हो उसी में परिणाम लगाना, संक्षेप से मानसिक विनय जानना। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष विनय है, तथा जो गुरु के अभाव में उनकी आज्ञा निर्देश का आचरण करने में की जाती है वह परोक्ष विनय है।[2]

विनय के पात्र–रत्नत्रय में जो अपने से उत्कृष्ट हैं, रत्नत्रय में जो अपने से हीन हैं उनमें, आर्यिकाओं में और गृहस्थवर्ग में वह विनय जो जिस योग्य हो, प्रमाद रहित होकर करना ही चाहिये।[3]

विनय की महिमा–विनय से रहित साधु की सब शिक्षा निष्फल होती शिक्षा का फल विनय है। विनय का फल सब कल्याण है।

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से संयम, तप और ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से आचार्य और सर्व संघ अपने वश में किया जाता है। आचार के क्रम तथा कल्प्य गुणों का प्रकाशन, आत्मशुद्धि, वैमनस्य का अभाव, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति और अपने और दूसरों को प्रसन्न करना, ये विनय के गुण हैं। कीर्ति, मित्रता, मान का विनाश, गुरुजनों का बहुमान और तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना ये विनय के गुण हैं। अर्ह, लिंग, भावना और

---

(1) वसु. श्रा. 323 (2) भ. आ. 118-119 (3) वसु. श्रा. 324 (4) स. सि. 9/23
(5) भ. आ. वि. 121 (6) भ. आ. 123, 124

विनय अधिकार में उत्तीर्ण ही समाधि के योग्य है।[4]

जो विनय नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है—जो सहजोत्पन्न यथाजात रूप को देखकर मान्य नहीं करता उसका विनय सत्कार नहीं करता और मात्सर्यभाव करता है, वे यदि संयम प्रतिपन्न भी हैं, तो भी मिथ्यादृष्टि है।[5]

विनय व्यवहार के योग्य अवस्थाएँ—वसतिका स्थान से, कायभूमि से, भिक्षा लेकर लौटते समय, चैत्यालय से आते समय, गुरु के पास से आते समय अथवा ग्रामान्तर से आते समय अथवा गुरुजन जब बाहर जाते हैं या बाहर से आते हैं, तब-तब अभ्युत्थान (खड़े होने आदि रुप विनय) करना चाहिए।[6]

विनय के अयोग्य अवस्थाएँ—व्याकुल चित्त वाले की, निद्रा, विकथा आदि से प्रमत्त दशा को प्राप्त की तथा आहार व विहार करते को वन्दना नहीं करनी चाहिए।[1]

5. समाधि अधिकार

समाधि का स्वरुप—धर्म और शुक्ल ध्यान को समाधि कहते हैं।[2]

वचनोच्चारण की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे ही समाधि की प्राप्ति होती है। संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है।[3]

बहिरंग और अन्तर्जल्प के त्याग स्वरुप योग है। और स्वरुप में चित्त का निरोध करना समाधि है।[4]

मन को एकाग्र करना अथवा सम शब्द का अर्थ एकरूप करना ऐसा है जैसे संगत हुआ, तैल इत्यादि। मन को शुभोपयोग में अथवा शुद्धोपयोग में एकाग्र करना यह समाधि शब्द का अर्थ है।[5]

उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है वही यथार्थ में समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं।[6]

समाधि के पात्र—जिसका चित्त अशुभ परिणामों के प्रवाह से रहित और वशवर्ती होता

---

(1) भ. आ. 125.126 (2) भ. आ. 127-128 (3) भ. आ. 129 (4) भ. आ. 130-133
(5) द. पा. 24 (6) भ. आ. वि. 118

है वह चित्त समाहित होता है। वह समाहित चित्त हि बिना थके निरतिचार चारित्र के भार को धारण करता है। जिसका चित्त चंचल है उसका समान (समता) भाव चालनी में रखे पानी की तरह गल जाता है। यद्यपि वह भिक्षु काय से और वचन से शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करता है।[7]

मन के निवारण करने मात्र से मनुष्य के सब संसार के कारक राग-द्वेष आदि दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार से जो दुष्ट मन को रागादि से निवारण करता है और निश्चल रूप से श्रद्धानमयी परिणामादि में स्थापित करता है तथा शुभ संकल्पों में मन को प्रवृत्त करता है और स्वाध्याय में मन को लगाता है उसके समताभाव होता है। जो भी रत्नत्रय से च्युत होकर विचित्र रागादि में जानेवाले मन को विचारों के साथ हटाता है और जो मन को निंदा गर्हा के द्वारा निगृहीत करता है– उसकी निंदा करता है और मन को अति लज्जित करता है उसके श्रामण्य होता है। वश में रहने वाले दास की तरह वश में न रहने वाले मन को जो अपने वश में करता है, उसके एकमात्र शुद्ध चिद्रूप का अवलम्बन करने वाला पाप परिणामों से निवृत्त और जिन शासन का अनुरागी श्रामण्य होता है। ऐसा जानना चाहिए।[1]

6. अनियत विहार अधिकार

जो समाधिमरण योग्य है, जिसने मुक्ति का उपाय जो निर्ग्रन्थ लिंग उसे स्वीकार किया है, श्रुत के अभ्यास में तत्पर है, पाँच प्रकार की विनय का पालन करता है और जिसने मन को अपने वश में कर लिया है, उसके लिए अनियतवास युक्त है।

प्रश्न–अनियतवास के क्या गुण हैं?

उत्तर–अनियतवास से समाधि करने वाले के अनियत विहार के गुण प्रकट होते हैं।[2]

अनियतवास के गुण–दर्शन विशुद्धि स्थितिकरण भावना, अतिशय अर्थों में निपुणता और क्षेत्र का अन्वेषण ये अनियत स्थान में बसने के गुण हैं।[3]

जिनदेवों के जन्म स्थान, दीक्षा स्थान, केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान और समवसरण के चिह्न, मानस्तम्भ का स्थान, निषीधिका स्थान देखने वाले के सम्यक् रूप से निर्मल सम्यग्दर्शन

---

(1) मूला. 599 (2) स्वयं भू स्त्रो. टी. /16 (3) नि. सा. 122, 123 (4) स्या. मं. टी. 17/229/16 (5) भ. आ. वि. 66 (6) म. पु. 21/226 (7) भ. आ. 134-135

हेता है। सम्यक् आचार और अनशन आदि तप से युक्त विशुद्ध लेश्यावाले मुनियों का अनियत-वास सम्यक् आचारवाले, योग के धारी सम्यक् लेश्यावाले मुनियों और संसार से भीत साधुओं कें संसार से भय उत्पन्न करता है।[4]

जो उत्तम क्षमा आदि धर्म का पालक है और पाप से डरता है, सूत्र और उसके अर्थ में निपुण है, शठता से रहित है ऐसा सदा देशान्तर में विहार करने वाला साधु दूसरों में विराग उत्पन्न करता है। संविग्नतर प्रिय धर्मतर और अवद्य भीरुतर साधु को देखकर विहार करने वाले साधु स्वयं भी प्रिय स्थिर धर्मतर संविग्नतर और अवद्य भीरुतर होता है। अनेक देशों में विहार करने से चर्या, भूख, प्यास, शांति और उष्ण का दु:ख संक्लेश रहित भाव से सहना होता है। वसति से भी ममत्व का अभाव होता है।[5]

देशान्तर में जाने से अनेक देशों के सम्बन्ध में कुशल हो जाता है। अनेक देशों में पाये जाने वाले शास्त्रों के शब्दार्थ के विषय में कुशल होता है। तथा अनेक आचार्यों के गण में प्रवेश होता है। आचार्यों के गण में प्रवेश करने से वसति और दाता के घर से निकलने और प्रवेश करने आदि में जो उनका सम्यक् आचरण है उसमें प्रवीण होता है। अनियत विहारी साधु को प्राणों के कण्ठ में आ जाने पर भी आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जैसे सूत्र, अर्थ और सामाचारी का अभ्यास करता है उसी प्रकार उसे आगम का अभ्यास करना चाहिए।[1]

सन् 1982 से 1985 तक अनेकों जगह अनियत विहार किये हैं। तब हम दो मुनि महाराज जब भी विहार की इच्छा होती तब बिना किसी को बताये तथा बिना किसी से पूछे किसी भी पथ पर निकल जाते थे न ही कोई गाँव या दूरी अथवा समाज है या नहीं कुछ नहीं पूछते थे। फल स्वरूप। एक बार छोटे से ग्राम से प्रात: विहार किया पर रास्ते में कोई भी समाज का घर नहीं मिला (लगभग 20-25 कि. मी. चले उस दिन सहज ही उपवास हो गया। रास्ते में माध्याह्निक देव वंदन (सामायिक) जंगल में एक वृक्ष के नीचे की पश्चात् पुन: विहार किया शाम के एक-एक अजैन वस्ती में पहुँचे। शीतकाल था फिर भी ग्रामीण लोगों ने यथोचित् व्यवस्था कर अपना सौभाग्य माना। अनेकों बार जुते हुए खेतों की मिट्टी में शयन किया, कहीं कभी शमशान में तो कभी जंगलों में हिरण या नीलगायों के मध्य भी व्यतीत किये।

सन् 1985 के बाद संघ में वयोवृद्ध मुनि श्री अजित सागर जी आये तब से यदा-कदा ही

---

(1) भ. आ. 140-143 (2) भ. आ. वि./उत्थानिका 144 (3) भ. आ. 144 (4) भ. आ. 145-146 (5) भ. आ. 147-149

अनियत विहार हुए क्योंकि उनकी उम्रानुसार उपरोक्त विहार संभव नहीं हो सके बाद में चतुर्विध संघ की वृद्धि हो जाने पर तो प्राय: बंद सा ही हो गया।

7. परिणाम अधिकार

परिणाम–'तद्भाव: परिणाम:' ऐसा पूर्वाचार्यों का वचन है अर्थात् जीवादिक पदार्थ क्रोधादिक विकारों से अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्याय से परिणत होना यह परिणाम शब्द का सामान्य अर्थ है। तथापि यहाँ यति को अपने कर्तव्य का हमेशा ख्याल रखना परिणाम शब्द का प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिए।[2]

आचार्य अपनी समाधि का समय निकट जान कर विचार करते हैं कि दीर्घकाल तक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप पर्याय का मैंने शास्त्रानुसार पालन किया। मैंने वाचना भी की और शिष्यों को तैयार किया। अब निश्चय से अपना कल्याण करना उचित है क्या अथालन्द विधि, भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनीमरण, परिहारविशुद्धि चारित्र, पादोपगमन अथवा जिनकल्प को धारण करके मैं विहार करूँ?[1]

उक्त प्रकार से विचार करके स्मृति का माहात्म्य होने पर और आयु के अल्प होने पर अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए भक्तप्रत्याख्यान में मति करते हैं। पहले कहे गये कारणों में से किसी एक भी सल्लेखना के कारण उपस्थित होने पर पूर्वोक्त प्रकार से भक्तप्रत्याख्यान में मति करे। जब तक स्मृति नष्ट नहीं होती, जब तक मेरे आतापन आदि योग पराधीन नहीं होते, जब तक श्रद्धा रहती है, इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्धहीन नहीं होता, जब तक क्षेम और सुभिक्ष है, जब तक आचार्य निर्यापकत्व के योग्य तीनों गारवों से रहित निर्मल ज्ञान, चारित्र और दर्शन वाले हैं, तब तक मुझे शरीर का त्याग विद्वानों से स्तुत्य, आगम में कही गई आराधना रूपी पताका का ग्रहणव्रत यज्ञ तथा भक्तप्रत्याख्यान करना युक्त है। साधक के इस प्रकार के विचार का नाम ही परिणाम है।[2]

8. उपधि (परिग्रह) त्याग अधिकार

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना उपधि त्याग है।[3] मुक्ति को खोजने वाला विशुद्ध लेश्या

---

(1) भ. आ. 150, 152-153 (2) भ. आ. वि. 66

से युक्त साधु संयम के साधनमात्र परिग्रह को छोड़कर शेष परिग्रह को प्रकर्ष अर्थात् मन-वचन-काय से त्याग देता है।[4]

परिग्रह त्याग पद का अन्वेषण करने वाला साधु अल्प परिकर्म वाले और बहुत परिकर्म वाले दोनों ही प्रकार के परिग्रहों को जिनमें वसति संस्तर आदि भी है, मन-वचन-काय से त्याग देता है।[5]

जिसमें देखना, साफ करना, झाड़ना आदि काम करना होता है वह परिग्रह अल्पपरिकर्म वाला होता है और जिसमें यह बहुत करना होता है वह बहुत परिकर्म वाला है।[6]

परिग्रह त्याग के लिये पाँच प्रकार की शुद्धि एवं पाँच प्रकार का विवेक अत्यावश्यक हैं क्योंकि—जो पाँच प्रकार की शुद्धियों को और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त किये बिना मरण को प्राप्त होते हैं वे समाधि को नहीं प्राप्त होते हैं। तथा पूर्णरूप से निश्चित मति वाले पाँच प्रकार की शुद्धि को और पाँच प्रकार के विवेक को प्राप्त हुए हैं, वे निश्चय से परम समाधि को प्राप्त होते हैं।[1]

पाँच प्रकार की शुद्धि—(1) आलोचना शुद्धि (2) शय्या संस्तर शुद्धि (3) उपधि शुद्धि (4) भक्तपान शुद्धि और (5) वैय्यावृत्य करने वालों की शुद्धि।[2] अथवा (1) दर्शनशुद्धि (2) ज्ञानशुद्धि (3) चारित्रशुद्धि (4) विनयशुद्धि और (5) आवश्यकशुद्धि, इस प्रकार शुद्धि के पाँच भेद होते हैं।[3]

1. निःशंकित आदि गुणों का धारण करना दर्शनशुद्धि है। उसके होने पर शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि अशुभ परिणाम रूप परिग्रहों का त्याग होता है।
2. काल में पढ़ना आदि ज्ञानशुद्धि की हैं। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया जो ज्ञानावरण के बन्ध का कारण हैं, उनका त्याग होता है।
3. पच्चीस भावनाएँ चारित्रशुद्धि की है। उसके होने पर मन की चंचलता को न रोकना आदि अशुभ परिणाम, जो आभ्यन्तर परिग्रह है, उनका त्याग होता है।
4. दृष्ट फल की अपेक्षा न करके विनय करना, विनय शुद्धि है। उसके होने पर उपकरण आदि के लाभ का लोभ दूर होता है।

---

(1) भ. आ. 156-157 (2) भ. आ. 158-159 (3) भ. आ. वि. 66 (4) भ. आ. 164
(5) भ. आ. 165 (6) भ. आ. वि. 165

5. सावद्य योग त्याग, जिनदेव के गुणों में अनुराग, नमस्कार करने के योग्य श्रुत आदि के गुणों का पालन करना, किये हुए अपराध की निन्दा, मन से प्रत्याख्यान करना, शरीर की असारता और उसके अनुपकारीपने का चिन्तन, ये आवश्यकशुद्धि है। उसके होने पर अशुभ योग, जिनदेव के गुणों में अनुराग का अभाव, श्रुत आदि के माहात्म्य में अनादर, अपराध के प्रति ग्लानि का न होना, प्रत्याख्यान का न होना और शरीर से ममता ये दोष परिग्रह है, इनका निरास होता है।[4]

पाँच विवेक–इन्द्रियविवेक, कषायविवेक, उपधि विवेक, भक्तपान- विवेक और देह का विवेक इस प्रकार यह विवेक पाँच प्रकार का पूर्वागम में कहा हैं तथा यह पाँच प्रकार का विवेक द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का हैं।[5]

रूप आदि विषयों में चक्षु आदि इन्द्रियों के आदर भाव से या क्रोधवश प्रवृत्ति न करना, यह देखता हूँ, अथवा यह सुनता हूँ, मनोहर गीत सावधानपूर्वक सुनता हूँ, इत्यादि वचनों का उच्चारण न करना द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर भी रूपादि का जो ज्ञान होता है जिसे भावेन्द्रिय कहते हैं, उस ज्ञान के होने पर भी राग द्वेष न करना अथवा राग द्वेष के सहचारी रूपादि विषय रूप से मानसज्ञान का परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है।

द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद हैं शरीर से और वचन से भौहों को संकोचना, आँखों का लाल होना, ओंठ काटना, शस्त्र उठाना इत्यादि काय का व्यापार न करना, काय द्रव्य कषायविवेक है। मैं मारता हूँ, ताड़न करता हूँ, सूली पर चढ़ाता हूँ इत्यादि वचन न बोलना वचनक्रोध कषायविवेक है। दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि के निमित्त से चित्त मे मलिनता का न होना, भाव से क्रोधविवेक है तथा मान कषाय विवेक के भी वचन और काय की अपेक्षा दो भेद हैं। शरीर को स्तब्ध करना, सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बैठना आदि जो मान सूचक काय व्यापार हैं उनका न करना, काय मान कषायविवेक है। मुझसे बड़ा कौन शास्त्र का पंडित, चारित्रवान और तपस्वी है, इस प्रकार के वचन न बोलना वचन मान कषायविवेक है। इसी प्रकार इनसे मैं उत्कृष्ट हूँ ऐसा मन से अहंकार न करना भाव से मान कषाय विवेक हैं। माया विवेक भी वचन और काय की अपेक्षा दो प्रकार हैं। दिखाना तो ऐसा मानो कुछ अन्य बोलते हैं और बोलना कुछ अन्य, इसका त्याग अथवा माया पूर्ण उपदेश का त्याग, अथवा न मैं माया

---

(1) भ. आ. 166, 167 (2) भ. आ. 168 (3) भ. आ. 169 (4) भ. आ.. वि. 169 (5) भ. आ. 170

करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ ऐसा बोलना वचन मायाविवेक हैं। अन्य करते हुए उससे अन्य का काय से न करना काय मायाविवेक है। लोभ कपाय विवेक भी दो प्रकार का है। जिस वस्तु का लोभ उसको लक्ष्य करके हाथ पसारना, जो उसे लेना चाहे उसे शरीर से मना करना या हाथ के संकेत से रोक़ना अथवा सिर हिलाकर मना करना, इस काय व्यापार का न करना काय लोभविवेक है। अथवा शरीर से वस्तु का ग्रहण न करना काय लोभविवेक है। यह वस्तु, ग्राम आदि मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इत्यादि वचन का उच्चारण न करना, अथवा न मैं किसी का स्वामी हूँ और न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभविवेक है। यह मेरा है इस भावरूप मोहजन्य परिणाम का न होना भाव लोभविवेक है।[1]

अथवा शरीर विवेक, वसति विवेक, संस्तर विवेक, उपधि विवेक, भक्तपान विवेक और वैय्यावृत्य करने वालों का विवेक, द्रव्य और भाव रूप होता हैं।[2]

प्रकारान्तर से विवेक के भेद कहते हैं शरीर विवेक, जो शरीर के द्वारा किया जाता है।

शंका–संसारी जीव का शरीर से विवेक कैसे सम्भव है?

समाधान–अपने शरीर में होने वाले उपद्रवों का दूर न करना, शरीरविवेक है। शरीर पर उपद्रव करने मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा देव को हाथ से नहीं रोकता कि मेरे ऊपर उपद्रव मत करो। डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प, कुत्ते आदि को हाथ से, पिच्छी आदि उपकरण से अथवा दण्ड वगैरह से दूर नहीं करता। छाता, पिच्छी, चटाई अथवा अन्य किसी आवरण से शरीर की रक्षा नहीं करता। यह काय से शरीरविवेक है। मेरे शरीर को पीड़ा मत दो, अथवा मेरी रक्षा करो, ऐसा न बोलना, अथवा यह शरीर अचेतन है, मुझसे भिन्न है, चैतन्य से और सुख दुःख के संवेदन से रहित है ऐसा बोलना, वचन से शरीरविवेक है। जिसमें पहले रहे हैं उस वसति में न रहना, काय से वसतिविवेक है पूर्व के संस्तर पर न सोना, न बैठना काय से संस्तर-विवेक है। मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह वचन से वसति और संस्तरविवेक है। उपकरणों का त्याग करता हूँ, ऐसा बोलना, वचन से उपधिविवेक है। भक्तपान को न खाना, न पीना, काय से, भक्तपानविवेक है। इस प्रकार के भोजन और पान को ग्रहण नहीं करना ऐसा कहना, वचन से भक्तपानी विवेक है। वैय्यावृत्य करने वाले अपने शिष्यों आदि के साथ वास न करना, काय से विवेक है। 'वैय्यावृत्य मत करो' मैंने तुम्हारा त्याग किया ऐसा कहना, वचन से विवेक है। सर्वत्र शरीर आदि में अनुराग का यह मेरा है इस प्रकार का भाव मन में न करना, भावविवेक है।[1]

---

(1) भ. आ. वि. 170 (2) भ. आ. 171

9. श्रिति अधिकार

श्रिति जो ऊपर–ऊपर गुणों की प्रतिपत्ति है वह भाव से श्रिति है तथा ऊपर चढ़ने वाले के नसैनी, सीढ़ी आदि द्रव्य श्रिति है।[2]

सल्लेखना करता हुआ शरीर से विरक्त साधु सब सुखशीलता को मन-वचन-काय से त्याग कर भावश्रिति पर आरोहण करके विहार करे। द्रव्यश्रिति और भावश्रिति के स्वरुप को विशेष रुप से जानने वाले तथा आचारांग के ज्ञाता ऊर्ध्वगमन रूप कार्य में नीचे पैर रखना प्रशंसनीय नहीं मानते।[3]

श्रिति रक्षा के उपाय–शुभ परिणामों की श्रेणि पर आरुढ साधु को आचार्य के ही साथ वार्तालाप करना चाहिये। कार्य हो तो शेष साधुओं से वार्तालाप करे। मिथ्यादृष्टि जनों में मौन रहे। शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टियों में और अपने ज्ञातजनों में मौन करे, न भी करे। क्रम का ज्ञाता मुनि शुभ परिणामों की श्रेणि पर चढ़कर किसी कारणवश व्यवहार में आये परिग्रह को और ईषत् उपधि रूप वसति को तथा जो लीपने-पोतने अयोग्य है, उसे त्याग कर तपश्चरण करता है।[1]

10. भावना अधिकार

भावना–भावना का अर्थ अभ्यास उसमें बार-बार प्रवृत्ति करना है।

सर्वगण से अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविका तथा अन्य जन समूह को गुरु के पीछे जो चारित्र के क्रम का विधान करता है अर्थात् आचार्य पद के योग्य मुनि उसे अनुदिश कहते हैं सल्लेखनार्थी (आचार्य) उसको सर्वसंघ के मध्य में स्थापित करके स्वयं बाहर होता है। उस समय वह कहता है–इनका रत्नत्रय निर्दोष है। यह अपना और तुम्हारा भी संसार सागर से उद्धार करने में समर्थ है। मैंने इसे आचार्य बनने की अनुज्ञा दी है। अतः इसके उपदेश के अनुसार आपको चलना चाहिये। संघ के भार से मुक्त होकर वह परोपकार करने का प्रयत्न रूप संक्लेश छोड़ देता है अर्थात् परोपकार करना छोड़ देता है और जिसमें संक्लेश नहीं है ऐसे असंक्लेश अर्थात् शुभ परिणाम से आत्मा की भावना भाता है।[2]

---

(1) भ. आ. वि. 171 (2) भ. आ. 173 (3) भ. आ. 174-175

संक्लिष्ट भावना के भेद–संक्लिष्ट भावना के पाँच भेद हैं, जो इस प्रकार हैं–(1) कन्दर्प भावना (2) किल्विष भावना (3) आभियोग्य भावना (4) असुर भावना और (5) सम्मोह भावना।[3]

1. कन्दर्प भावना–राग की अत्यधिकता से हँसी से मिला हुआ असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। राग की अधिकता से हँसते हुए दूसरे को लक्ष्य करके शरीर से कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन दोनों को जो करता है, सदा हास्य कथा करता है और कुछ कौतुक दिखाकर दूसरे को अचरज में डालता है, वह कन्दर्प भावना है। आशय यह है कि राग की अधिकता से होने वाले हास्यपूर्वक वचन योग और काय योग तथा दूसरे को कौतुहलपूर्वक अचरज में डालना कन्दर्प भावना है।[4]

2. किल्विष भावना–जो श्रुतज्ञान के विषय में माया रखता है, वह ज्ञान सम्बन्धी मायाचारी है। ज्ञान में भक्ति नहीं है, बाहर से विनय करता है। केवलियों में आदर तो दिखलाता है किन्तु उनकी पूजा आदि मन में नहीं रुचती अर्थात् मन से नहीं करता है। वह केवलियों के सम्बन्ध में मायावी हैं धर्म अर्थात् चारित्र के विषय में जो मायाचार करता है वह धर्म का मायावी है तथा जो आचार्यों और साधुओं को ठगता है वह किल्विष भावना को करता है।[1]

3. अभियोग्य भावना–द्रव्यलाभ, मिष्टरस और सुख के लिये जो मन्त्राभियोग–भूत आदि बुलाना, कौतुक–अकाल में वर्षा आदि दिखलाना और बच्चों की रक्षा के लिए भभूत देना आदि करता है वह अभियोग्य भावना करता है।[2]

4. आसुरी भावना–अनुबद्ध अर्थात् परभव तक साथ जाने वाले, क्रोध और कलह से जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदि से आजीविका करता है, निर्दय है, दूसरे को कष्ट देकर भी पश्चाताप नहीं करता वह आसुरी भावना को करता है।[3]

5. सम्मोहन भावना–जो मिथ्यात्व या असंयम का उपदेश देता है मार्ग को दूषण लगाने वाला है और रत्नत्रय का विरोधी है, अज्ञान से मूढ़ है वह सम्मोह भावना को करता है।[4]

संक्लेश भावनायें त्याग करने योग्य हैं–रत्नत्रय से च्युत हुआ इन भावनाओं से देवदुर्गति प्राप्त करता है अर्थात् नीच जाति के देवों में जन्म लेता है तथा उस देवदुर्गति से च्युत होकर अन्तरहित संसार समुद्र में भ्रमण करता है।[5] अतः उपरोक्त पाँचों कुभावनाओं का त्याग करना चाहिए।

---

(1) भ. आ. 176-177 (2) भ. आ. वि. 179 (3) भ. आ. वि. 181 (4) भ. आ. वि. 182

संक्लेश रहित भावनायें–संक्लेश रहित भावाना पाँच हैं, जो इस प्रकार हैं–(1) तप भावना (2) श्रुत भावना (3) सत्त्व भावना (4) एकत्व भावना (5) धृतिबल भावना।[6]

1. तप भावना–तप का अभ्यास तप भावना है।

द्रव्य और भावरूप तप की भावना से पाँचों इन्द्रियाँ दमित होकर उस तप भावना वाले के वश में हो जाती हैं। इन्द्रियों को शिक्षा देने वाले वह आचार्य रत्नत्रय का समाधान करने वाली क्रियाएँ करता है। क्योंकि जो इन्द्रिय सुख के स्वाद में आसक्त है, भूख आदि की दुःसह परीषहों से हारकर रत्नत्रय से विमुख हुआ है, जिसने परिकर्म से आराधना के योग्य तप नहीं किया है वह दीन आराधना के काल में विचलित हो जाता है, उसका मन इधर-उधर भटकता है।[1]

जैसे जिस घोड़े को शब्द के संकेत पर चलने, भ्रमण, लंघन आदि की शिक्षा नहीं दी गई है और चिरकाल तक जिसका सुखपूर्वक लालन पालन किया गया है, वह घोड़ा युद्धभूमि में सवारी के लिए ले जाया गया कार्य (युद्ध विषयक कार्य) नहीं करता, वैसे ही यति भी जानना। जैसे योग्य शिक्षा को प्राप्त अश्व चिरकाल तक दुःख से भावित हुआ अर्थात् कष्ट सहने का अभ्यासी युद्धभूमि में सवारी में ले जाने पर कार्य करता है। उसी प्रकार पूर्व में तप करने वाला विषय सुख से विमुख जीव मरते समय समाधि का इच्छुक हुआ निश्चय से परीषह को सहने वाला होता है।[2]

2. श्रुत भावना–श्रुत का अभ्यास श्रुत भावना है।

क्षपक, श्रुतभावना से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, तप और संयमरूप परिणमन करता है। ज्ञान भावना से उपयोग की प्रतिज्ञा को सुखपूर्वक अचलित होता हुआ समाप्त करता है।[3]

शब्द के अर्थविषयक ज्ञान में बार-बार प्रवृत्ति करना अर्थात् उसका अभ्यास करना श्रुतभावना है। 'श्रूयते' जो सुना जाता है वह श्रुत है ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी कान से जो कुछ वचन समूह सुना जाता है उस सबको श्रुत नहीं कहते हैं। किन्तु अपनी आगमिक रूढ़िवश गणधर के द्वारा रचे गये शब्द समूह को ही श्रुत कहते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाले ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं। उस श्रुत ज्ञान की भावना से समीचीन ज्ञान, दर्शन, तप और संयम रूप परिणति को प्राप्त होता है। सतत् अभ्यास करने से श्रुतज्ञान निर्मल

---

(1) भ. आ. वि. 183 (2) भ. आ. 184 (3) भ. आ. 185 (4) भ. आ. 186 (5) भ. आ. 187 (6) भ. आ. 189

और प्रबल होता है। प्रबल अभ्यास के बल से स्मृति बिना खेद के अपना काम करती है। योग अर्थात् वचन और काय के व्यापार का मूल स्मृति है।[4]

3. सत्त्व भावना–निर्भयता की भावना सत्त्व भावना है।

देवों के द्वारा पीड़ित किया गया भी अथवा भयंकर जीवों के द्वारा सताया गया यति सत्त्वभावना के द्वारा दु:ख सहन करने से निडर होकर संयम के समस्त भार को वहन करता है। सत्त्व भावना में लीन साधु अपने अनन्त बालमरणों को सम्यक्रूप से विचार कर मरण के उपस्थित होने पर भी मोहित नहीं होता।[5] सत्त्व भावना में लीन मुनिराज सोचते हैं कि–

पृथ्वीकाय में–जन्म लेकर मैंने खोदने, जलने, जोतने, कूटने, तोड़नें, लोटने, पीसने, और चूर्ण की तरह पीसे जाने का कष्ट उठाया है।

जलकाय में–जल को शरीर रूप से ग्रहण करके मैंने सूर्य की किरणों के समूह गिरने से, आग की ज्वाला के समूह के द्वारा मेरे शरीर को निगल लेने से, पर्वत की गुफा जैसे ऊँचे स्थानों में शिला और कठोर पृथ्वी पर अति वेग से, गिरने से, खट्टे, नमकीन, खार आदि रसों से युक्त द्रव्यों के मिलने से धक-धक जलती हुई आग पर फेंकनें से, वृक्ष, किनारे और शिलाओं के गिरने से, पैर और हथेली के अभिघात से, तैरने में उद्यत मनुष्यों के विशाल और दृढ़ छाती से पीड़ित होने से, विशालकाल हाथियों के तैरने, डूबने और सूड़ के द्वारा क्षोभित होने से मैंने बड़ी वेदना भोगी है।

वायुकाय में–शरीर रूप से ग्रहण करके वृक्ष, झाड़ी पर्वत आदि प्राणियों की अत्यन्त कठोर काया के अभिघात से, दूसरी वायु के द्वारा दबाये जाने से और आग के स्पर्शन से मैंने दु:खों का अनुभव किया है।

अग्रिकाय में–शरीर रूप से ग्रहण करके बुझाने से, धूल, भस्म, रेत आदि मेरे ऊपर फेंकने से, मूसल जैसी जलधारा डालने से, दण्ड काष्ठ आदि से पीटने से, लोष्ठ पत्थर आदि से चूर्णित करने से और वायु से पीड़ित होने से मैं विपत्तियों का स्थान बना रहा।

वनस्पतिकाय में–फल, पलाश, पत्र, फूल आदि के शरीर को स्वीकार करके तोड़ना, खाना, मलना, पीसना और जलाने आदि की वेदना सहता रहा।

द्वीन्द्रियादिकों में–कुंथु-चींटी आदि त्रस पर्याय को धारण करके वेग से जाते हुए रथ

(1) भ. आ. 190-191 (2) भ. आ. 192, 194, 195 (3) भ. आ. 196 (4) भ. आ. वि. 196-197 (5) भ. आ. 198, 201

के पहिये के आक्रमण से, गधे-घोड़े आदि के कठोर खुर के आघात से, जल के प्रवाह के खिचाव से, जंगल की आग से, वृक्ष, पत्थर आदि गिरने से, मनुष्य के चरणों से रौंदे जाने से और बलवानों के द्वारा खाये जाने से मैंने चिरकाल तक कष्ट भोगा है तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में गधा, ऊँट, बैल आदि का शरीर धारण करके भारी बोझा लादने से, सवारी करने से, बाँधने से, अत्यन्त कठोर कोड़े, डण्डे और मसूल आदि से पीटने से, भोजन न देने से, शीत, उष्ण, वायु आदि के चलने से, कान छेदने से, परशु आदि से काटने से, तीक्ष्ण तलवार की धार के प्रहार से मैंने चिरकाल उपद्रव सहे हैं तथा पैर टूट जाने पर, कमजोर होने से अथवा रोग से पीड़ित होने से गिर पड़ने पर, इधर उधर घूमने पर अति क्रूर व्याघ्र, सियार, कुत्ते आदि से खाये जाने पर, कौवे, गिद्ध, कंक आदि पक्षियों के द्वारा अपना आहार बनाये जाने पर, आँखों से आँसू बहाते हुए भी कौन मेरी रक्षा करता था। अतः भारी बोझा लादने से उत्पन्न हुए घावों में पैदा हुए कीटों से और उनको खाने वाले कौओं से मैं निरन्तर सताया गया हूँ तथा मनुष्यभव में भी इन्द्रियों की कमी होने से, गरीबी से, असाध्य रोग के होने से, इष्ट वस्तु के न मिलने से, अप्रिय के संसर्ग से, दूसरे की चाकरी करने से, दूसरे के द्वारा तिरस्कृत होने से, धन कमाने की इच्छा से, दुष्कर कर्मबन्ध के कारण षट्कर्मों को करने से अनेक प्रकार की विपत्तियों को मैंने भोगा है। उसी प्रकार देवपर्याय में भी दूर हटो, जल्दी चलो, स्वामी के प्रस्थान करने का समय है। प्रस्थान करने के नगाड़े बजाओ, ध्वजा लो, निराश देवियों की देखभाल करो, स्वामी को इष्ट वाहन का रूप धारण करके खड़े हो, क्या अति पुण्यशाली इन्द्र की दासता को भूल गये जो चुपचाप खड़े हो, आगे नहीं दौड़ते। इस प्रकार देवों के प्रधानों के अति कठोर वचन रूपी कीलों के कानों के छेदने से, इन्द्र के अन्तःपुर की देवांगनाओं की अभिलाषा रूपी आग से उत्पन्न हुए संताप से और आयु के छह मास के शेष रहने के परिज्ञान से महान दुःख होता है। इसी प्रकार नरक पर्याय में भी जानना। इस प्रकार मैंने अनंतकाल दुःख का अनुभव किया है। तब दुःख आने पर विषाद क्यों?

विषाद करने से दुःख छोड़ता नहीं है। दुःख तो अपने कारणों के होने से होता है। यह सत्त्व भावना है। यदि अशुभ शरीर के देखने से भय होता है तो वह भी ठीक नहीं है। ऐसे शरीर मैंने बहुत बार धारण किये हैं और देखे हैं। तो फिर परिचितों से भय कैसा? इस प्रकार चित्त को स्थिर करना सत्त्वभावना हैं।"[1]

4. एकत्व भावना—मैं अकेला हूँ। कामभोग और संघ आदि से भिन्न हूँ इत्यादि विचार करना एकत्व भावना है।

जन्म, जरा और मरण के बार-बार होने से उत्पन्न हुए दुःख को भोगने में कोई मेरे दुःख में भाग नहीं लेता, वह परजन है इसलिये उससे द्वेष करना उचित नहीं है। यदि कोई दुःख में भाग नहीं लेता तो मुझमें सुख ही पैदा कर दे सो भी बात नहीं है, अतः जो मुझमें सुख पैदा करे वह स्वजन है और जो सुख पैदा नहीं करता वह परजन है, ऐसा भेद सुख को लेकर भी नहीं होता। अतः मैं अकेला ही हूँ। कोई मेरा नहीं है और न मैं ही किसी का हूँ ऐसा विचार करना चाहिए। उसका लाभ कहते हैं कि एकत्व भावना से कामभोग में, शिष्यादि के समूहरूप गण में, शरीर अथवा सुख में आसक्ति नहीं होती।

'काम' अर्थात् अपनी इच्छा से जो भोगे जाते हैं वे कामभोग हैं। सुख का साधन होने से मन में संकल्पित खान-पान आदि स्त्री आदि वर्ग कामभोग है। उसमें वह आसक्ति नहीं करता। बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए प्रीति विशेष को सुख शब्द से कहते हैं। वे चित्त को व्याकुल करने वाली अति तृष्णा को ही पैदा करते हैं। वे चित्त को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं हैं कामभोग भोगने योग्य नहीं है। रत्नत्रय रूप संपत्ति ही मनुष्य के लिए उपयोगी है। उस भोग सम्पदा से हमें कुछ नहीं करना है। मेरे परिणामों पर अवलम्बित बन्ध और मोह ही मेरे है। अतः गण से मुझे क्या? शरीर भी अकिञ्चित्कर है यदि ऐसा न होता तो कर्म क्या करते। बाह्य जीव, अजीव आदि द्रव्यों में यह उपकारक है और यह उपकारक नहीं है ऐसा संकल्प करने से ही रागद्वेष होते है और संकल्प न करने से नहीं होते। इसलि स प्रकार का संकल्प त्यागकर शुद्ध आत्म स्वरूप के ज्ञानरूप परिणामों का प्रबन्ध और पर की सहायता से रहित आत्म स्वरूप का चिन्तन एकत्व भावना कहलाता है उसके होने पर किसी भी पदार्थ में ममत्व नहीं होता। अतः वैराग्य धारण करके उत्कृष्ट चारित्र को अपनाता हूँ। इसका तात्पर्य है कि संसार का बीज जो ममत्वभाव है उससे निवृत्ति और समस्त कर्मों के विनाश का कारण चारित्र है, इन सब की प्राप्ति एकत्व भावना से होती है। एकत्व भावना अज्ञान रूप मोह को भी दूर करती है। जैसे जिनकल्पी? मोह को दूर करते है।[1]

5. धृति भावना–इसका अर्थ है दुःख आने पर कातर? (घबड़ाना) नहीं होना धृति अर्थात् धैर्य ही हुआ बल। उसकी भावना अर्थात् अभ्यास, निरन्तर, कातरता रहित वृत्ति को धृति बल भावना कहते हैं। उस धृति बल भावना से दुःखदायी परीषह की सेना से मुनि युद्ध करता है, यह कहते हैं–

---

(1) भ. आ. वि. 201

दुःखदायी संकट के वेग सहित, अल्प शक्तिवालों को भय पैदा करने वाली भूख आदि बाईस परीषहों की समस्त सेना जिसके साथ में चार प्रकार के उपसर्ग भी हैं, यदि सन्मुख खड़ी हो, तो धैर्य के साथ दृढतापूर्वक कमर को बाँधनेवाला शूर विना किसी घबराहट के धृति भावना से उस सेना से अत्यन्त युद्ध करता है। फलस्वरूप उसका मनोरथ सम्पूर्ण होता है।[2]

11. सल्लेखना अधिकार

अच्छे प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। अर्थात् बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का, उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करनेवाले कारणों को घटाते हुए भले प्रकार से लेखन करना अर्थात् कृश करना सल्लेखना है। (वि. दे. सल्लेखना पृष्ठ 17 से 30)?

12. दिशि (दिशा) अधिकार

दिशा–दिशा अर्थात् आचार्य ने अपने स्थान पर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोक का उपदेश करके मोक्षमार्ग में भव्यों को स्थिर करता है। संघाधिपति आचार्य ने यावज्जीन आचार्य पदवी त्याग करके अपने पद पर स्थापित हुआ और आचार्य के समान जिसका गुण समुदाय है ऐसा जो उनका शिष्य उनको दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते हैं।[1]

स्वभावतः यह अपवित्र और भार रूप शरीर त्यागने योग्य है ऐसा निश्चय करके शरीर को धारण करने में ग्लानि करता है उसे शरीर के धारण करने में कोई हर्ष नहीं होता। पीछे दुःख के घर इस शरीर से डरकर समाधि मरण की तैयारी करता हुआ अपने शिष्यों के पास जाता है।[2]

सल्लेखना करने वाले दो प्रकार के होते हैं- एक आचार्य दूसरे साधु। यदि आचार्य हो तो उसे अवस्था में भी गण का हित विचारना चाहिए। अर्थात् आचार्य यदि सल्लेखना धारण करने का निश्चय करे तो उसे अपने संघ के सम्बंध में भी विचार करना चाहिए कि उसकी क्या व्यवस्था की जाये।[3]

आचार्य पद त्याग विधि- अपनी आयु की स्थिति-विचारकर समस्त संघ को और बालाचार्य

---

(1) भ. आ. वि. 202 (2) भ. आ. 204-205

(आचार्य पद के योग्य शिष्य) को बुलाकर शुभ दिन, शुभकरण, शुभनक्षत्र और शुभ लग्न में तथा शुभ देश में, गच्छ का अनुपालन करने के लिए गुणों से अपने समान भिक्षु का विचार करके पश्चात् वह धीर आचार्य थोड़ी सी बातचीत पूर्वक उस गण का त्याग करता है। अर्थात् आचार्य पद के साथ सर्व संघ को उक्त शिष्य को सौंप देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि ज्ञान दर्शन चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति न हो, इसलिए उसे सब गुणों से युक्त जानकर ''यह तुम्हारा आचार्य है'' ऐसा शिष्यों को समझाकर आप इस गण का पालन करें ऐसा उस नवीन आचार्य को अनुज्ञा करते हैं।[4]

13. क्षमणा (क्षमा) अधिकार

क्षमा ग्रहण करने को क्षमणा कहते है।[1]

दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और राग से जो कटुक और कठोर वचन कहे गये आज उन सभी की मैं आपसे क्षमा मांगता हूँ।[2] आप लोग क्षमा करें तथा मेरा किसी से किंचित् भी बैर नहीं है मैं सभी को क्षमा करता हूँ।

संघ द्वारा क्षमा याचना–वंदना करके, पृथ्वी पर पाँचों अंगों को स्थापित करके अर्थात् पञ्चांग नमस्कार करके संसार के दुःखों से रक्षा करने वाले सबको प्रिय अपने दश प्रकार के उत्तम क्षमादि रूप धर्म में स्वयं प्रवृत्त और दूसरों को प्रवृत्त करने वाले आचार्य से गण भी मन वचन काय से क्षमा माँगता है।[3]

14. अनुशिष्टि (अनुशासन) अधिकार

आगम के अविरूद्ध करना अनुशिष्टि कहलाता है।[4]

नूतन आचार्य के प्रति उपदेश–पूर्वोक्त शुभ तिथि आदि से युक्त काल और देश में गणाधिपति और गण को भी स्नेह सहित, माधुर्य से युक्त, सारवान होने से गम्भीर सुख से समझ में आने वाली, चित्त को आनन्ददायक और हितकारी शिक्षा देते हैं।[5]

आप लोगों को रत्नत्रय मार्ग में वृद्धि कारक प्रवृत्ति करना चाहिये। नदी की तरह प्रारंभ से (अल्प से) अधिक की ओर बढ़ना चाहिये। बिल्ली के शब्द की तरह प्रारंभ में अधिक

---

(1) भ. आ. वि. /67 (2) भ. आ. 273 (3) भ. आ. 274 (4) भ. आ. 275-277

से हीनता की ओर नहीं होना चाहिए। प्रथम अपनी झोपड़ी की आग बुझाना चाहिए पश्चात् दूसरों की। धर्मी विधर्मियों में विरोधात्मक कार्य न करना। कषायों को छोड़ो। शांति विनाशक वाद विवाद छोड़ो। स्वपर को रत्नत्रय से जोड़ने वाला ही आचार्य (पद के योग्य) होता है। 46 दोषों से रहित आहार, उपकरण, वसतिका को ग्रहण करने वाला योगी ही संयत है। पंचाचार परायण एवं लौकिक सुखों से विरक्त मुनि ही आचार्य पद के योग्य हैं। जो पूर्व में राज्य नगर आदि को छोड़कर भी उसमें ममत्व रखता है वह संयम रहित केवल मुनिवेषी ही है। शिष्यों के अपराध प्रगट मत करना, सब कार्यों में समदर्शी होना। बाल वृद्ध साधुओं की विधि विधान से रक्षा करना। जहाँ कोई दीक्षा न लेता हो, संयम का विनाश होता हो, जहाँ का राजा दुष्ट हो अथवा राजा ही न हो वहाँ कभी न जाना।[1]

संघस्थ साधुओं के प्रति उपदेश—हे मुनिगण! चारित्रवर्धक आवश्यकों में कभी प्रमाद नहीं करना। संज्ञा, गारव, कुध्यान एवं कषायों से रहित, हो गुप्ति तथा समितियों से युक्त होना चाहिए। इन्द्रियरूपी हाथी जो विषयरुपी वन में घूम रहा है, उसे जिनवचन रूपी अंकुश से वश में करो। विषय एवं परिग्रह त्यागी साधु चार आराधनाओं के आराधक ही महामानव हैं। गुरुजनों की सुश्रुषा करो, जिनवंदना, नमस्कार, स्तुति, भक्ति करो प्रसन्न मन से ध्यान एवं स्वाध्याय करो। परीषह एवं ग्रामीण जनों के कठोर वचनों द्वारा घबड़ाकर धर्म धुरा को मत छोड़ देना। तीर्थंकरों ने तप किया तभी मोक्ष को प्राप्त हुये तो तुम लोगों को भी तप करना चाहिए। चतुर्विध संघ की सदा वैय्यावृत्ति करना चाहिए।[2]

वैय्यावृत्ति—सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार बाल एवं वृद्ध से भरे गण, वर्ग अपनी शक्ति एवं भक्ति से ''सोने के स्थान और उपकरणों की प्रतिलेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषध आदि का देना, स्वाध्याय करना, अशक्त मुनि के शरीर का मल शोधन करना, एक करवट से दूसरी करवट लिटाना, जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हैं, उनके पैर आदि दबाना, जिन्हें चोरों ने सताया है, जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी को रोकने वालों से और मारी रोग से जो पीड़ित हैं, विद्या आदि से उनका उपद्रव दूर करना, जो दुर्भिक्ष में फंसे हैं उन्हें सुभिक्ष देश में लाना, आप न डरें इत्यादि रूप से उन्हें धैर्य देना तथा उनका संरक्षण करना, वैय्यावृत्ति कहा है।[3]

(1) भ. आ. वि. 67 (2) भ. आ. 279 (3) भ. आ. 280 (4) भ. आ. वि. 67 (5) भ. आ. 282

वैय्यावृत्ति न करने से हानि–वैय्यावृत्ति न करने से जिनाज्ञा का लोप, श्रुतकथित धर्म का विनाश, अनाचार, स्व-पर और आगम का लोप होता है यहाँ तक ही नहीं किन्तु वैय्यावृत्ति में समर्थ होकर भी जो इसे नहीं करता है उसके समान अधार्मिक कौन है। वह धर्म से बहिष्कृत हैं।[4]

वैय्यावृत्ति के गुण–गुण, परिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, रत्नत्रय में स्वपर को जोड़ना, तप, पूजा, तीर्थ, अविच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा, संयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना और कार्य निर्वाहन में वैय्यावृत्ति के 18 गुण हैं।[5]

वैय्यावृत्ति की महिमा–वैय्यावृत्य करने वाला मुनि उत्कृष्ट वैय्यावृत्य नामक तप में एकाग्र होकर अनेक भवों में कष्ट देने वाले कर्मों की निर्जरा करता हुआ विहार करता है। शुद्धचित्त से वैय्यावृत्य करने वाले के द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के सब तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म, मन, वचन, काय से पूजित होते हैं। तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन करने से सभी तीर्थंकर आदि इसके द्वारा पूजित होते हैं तथा दस प्रकार के धर्मों में एक तपधर्म भी है और वैय्यावृत्य करने से धर्म पूजित होता है।[1]

''जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैय्यावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।''[2]

वैय्यावृत्य में तत्पर साधु गुणपरिणाम आदि कारणों के द्वारा उस तीर्थंकर नामक पुण्य कर्म का बंध करता है जो तीनों लोकों में हलचल पैदा करता है।[3]

वैय्यावृत्य में तत्पर साधु के बहुत से महान् गुण होते हैं। जो केवल स्वाध्याय ही करता है वह तो अपने ही प्रयोजन में लगा रहता है किन्तु वैय्यावृत्य करने वाला अपना और दूसरों का उपकार करता है। अर्थात् केवल स्वाध्याय करने वाले साधु से वैय्यावृत्य करने वालों विशिष्ट होता है। स्वाध्याय करने वाले साधु पर विपत्ति आवे तो उसे वैय्यावृत्य करने वाले का ही मुख ताकना होता है''।[4] अत: प्रकुर्वित्व (प्रकारत्व) गुण के धारी आचार्य स्वरूप वैय्यावृत्य में कुशल होते हैं।

आर्यिका संगति निषेध–आर्यिका संगति विष हैं, अग्नि है, अन्याय, निंदा के स्थान के स्थानभूत है। पाप, असंयम और मिथ्यातप का कारण है। अत: स्थविर (वृद्ध) प्रमाणित शास्त्रज्ञ

---

(1) भ. आ. वि. 283-297 (2) भ. आ. वि. 298-305 (3) भ. आ. 306-308 (4) भ. आ. 310 (5) भ. आ. 311, 312

और तपस्वी साधुओं को भी आर्यिका संघ सर्वथा त्याज्य है। वाला, युवती, वृद्धा, कुरूपा, सुरूपाओं में जो अप्रमादी है इनमें जो विश्वास नहीं करता, इनकी संगति नहीं करता वही अपने ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करता है अन्य नहीं।[5] जो साधु आर्यिकाओं के वचनों को मानता है, उनकी बात को स्वीकार करता है, वह कफ में पड़ी मक्खी की तरह उसमें फँस जाता है। आर्यिका बंधन सर्वाधिक बलिष्ट बंधन है। विद्वान साधुओं को आर्यिका संसर्ग, वार्तालाप, निवास, प्रतिक्रमण, चर्चा आदि सर्वक्रिया सर्वथा त्याग करने योग्य है।[6]

कुमुनि संगति निषेध–कषाय से आकुलित चित्त वाले, दुष्ट, छिद्रान्वेषी साधु पार्श्वस्थ हैं वे उसी तरह त्याज्य हैं जैसे–सर्प। जो मुनि पार्श्वस्थ साधु की संगति करता है वह प्रारंभ में तो लज्जा और जुगुप्सावान होता है अंत में निशंक हो उसी के तुल्य हो जाता है। गंध से मिट्टी, अग्नि से जल, शव से रत्नमाला, मद्य की दुकान पर दूध भी अपवादित होते है वैसे ही पार्श्वस्थ साधु की संगति से श्रेष्ठ साधु भी अपवादित होते हैं। दुर्जनों से प्रभावित साधु को सज्जनों की संगति अच्छी नहीं लगती सज्जनों की संगति से दुर्जनता दूर होती है।[1]

कुमुनियों के भेद–(1) पार्श्वस्थ (2) अवसन्न (आसन्न) (3) संसक्त (4) मृगचारी और (5) कुशील ये पाँच प्रकार के कुमुनि हैं।

पार्श्वस्थादि कुमुनियों का स्वरुप–1. पार्श्वस्थ–"जैसे कोई मार्ग को देखते हुए भी उस मार्ग से न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्ग से जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं। इसी प्रकार जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता है, वह न तो एकान्त से असंयमी है और न निरतिचार संयम है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। नित्य भोजन करता है। भोजन करने से पहले और भोजन करने के पश्चात् दाता की स्तुति करता है अथवा उत्पादन और एषणा दोष से दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिका में रहता है। एक ही संस्तर पर सोता है। एक ही क्षेत्र में रहता है। गृहस्थों के घर के भीतर बैठता है। गृहस्थों के उपकरणों का उपयोग करता है। विना प्रतिलेखना के वस्तु को ग्रहण करता है या दृष्टता पूर्वक प्रतिलेखन (प्रतिलेखना) करता है। सुई, कैंची, नख काटने के लिए नहिनी, छुरा, कान का मैल निकालने की सीक, चर्म आदि पास में रखता है, और सीना, धोना, रंगना आदि कामों में लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण, सुरमा,

---

(1) भ. आ. 323-324 (2) भ. आ. 326 (3) भ. आ. 330 (4) भ. आ. 331
(5) भ. आ. 332, 333, 336 (6) भ. आ. 338/339

नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पास में जो रखता है वह पार्श्वस्थ है। जो रात में मनमाना सोता है, संस्तर इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण बकुश है। जो दिन में सोता है वह देहबकुश है। ये पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीवी है वह पार्श्वस्थ है सारांश यह है कि सुखशील होने के कारण जो बिना कारण अयोग्य का सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है।

2. अवसन्न–जैसे कोई पुरुष कीचड़ में फँस गया या मार्ग में थक गया तो उसको अवसन्न कहते है। वह द्रव्यरूप से अवसन्न है। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है। वह भाव अवसन्न होता है। वह उपकरण में, वसतिका में, संस्तर के शोधने में, स्वाध्याय में, विहार करने की भूमि के शोधन में, बोलनें में, आहार की शुद्धता में, ईर्यासमिति आदि में, स्वाध्याय के काल का ध्यान रखने में और स्वाध्याय की समाप्ति में तत्पर नहीं रहता। छह आवश्यकों में आलस्य करता है या दूसरों से करता तो अधिक है किन्तु वचन और काय से करता है, भाव से नहीं करता। इस प्रकार चारित्र का पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं।

3. संसक्त–चारित्र प्रेमियों में चारित्रप्रेमी, और चारित्र से प्रेम न करने वालों में चारित्र के अप्रेमी, इस तरह जो नट की तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि हैं। जो पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं ऋद्धि गारव, सात गारव और रस गारव में लीन होते हैं, स्त्रियों के विषय में रागरूप परिणाम रखते हैं और गृहस्थजनों के प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि हैं वे पार्श्वस्थ के संसर्ग से पार्श्वस्थ, कुशील के संसर्ग से कुशील और स्वच्छन्द के सम्पर्क से स्वयं भी स्वच्छन्द होते हैं।

4. स्वच्छन्द (मृगचारी)–जो बात आगम में नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षा में जलधारण करना अर्थात् वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है छुरे, कैंची आदि से केश काटने की प्रशंसा करना और कहना कि केशलोंच करने से आत्मा की विराधना होती है। पृथ्वी पर सोने से तृणों में रहनेवाले जन्तुओं को बाधा होती है उद्दिष्ट भोजन में कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथ में भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करने वाले नहीं है ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं।

---

(1) म. का. 347-353, 358-359

5. कुशील—जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है।

शंका—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोक में जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, इसमें भेद ग्रहण करना चाहिये। वह कुशील अनेक प्रकार का होता है। कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगाने की विद्या के प्रयोग द्वारा सौभाग्य के कारण राजद्वार में कौतुक दिखलाता है। कोई भूतिकर्म कुशील होता है। यहाँ भूति शब्द से भस्म, धूल, सरसों, पुष्प, फल, अथवा जल आदि से मंत्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है विजयोदय की क्षेपक गाथा में कहा है। कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओं के द्वारा लोगों का मनोरंजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोग के द्वारा असंयमी जनों का इलाज करता है। कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टांग निमित्तों को जानकर लोगों को इष्ट-अनिष्ट वतलाता है। जो अपनी जाति अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है। जो किसी के द्वारा सताये जाने पर दूसरे की शरण में जाता है अथवा अनाथशाला में जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है जो विद्या प्रयोग आदि के द्वारा दूसरों का द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शन में तत्पर रहता है वह कुक्वकुशील होता है, जो इन्द्रजाल आदि के द्वारा लोगों को आश्चर्य उत्पन्न करके बताता है वह कुहनकुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलों को उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छना कुशील है। जो त्रसजाति के कीट आदि का, वृक्ष आदि का, पुष्प, फल आदि का तथा गर्भ का विनाश करता है उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है विजयोदय टीका की क्षेपक गाथा में कहा है।

जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रह को स्वीकार करते है हरे कंद, फल खाते हैं, कृत, कारित अनुमोदना से युक्त भोजन, उपधि वसतिका का सेवन करते हैं। स्त्रीकथा में लीन रहते हैं, आस्रव के अधिकरणों में लगे रहते हैं वे सब कुशील है। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह कुशील है।"[1]

आचार्य श्री का पुनः उपदेश—दोष कथन में मौन रखो। पर निंदा, अपयश, वैर, भय, दुःख, शोक और लघुता को करती है। पाप रूप दुर्भाग्य को लाती है। सज्जनों के अप्रिय हैं।[2]

संयम साधक निंदा श्रेष्ट है किन्तु संयम विनाशक प्रशंसा श्रेष्ठ नहीं है। हितकर कड़वे वचन

भी ग्राह्य है किन्तु अहितकारी प्रिय वचन श्रेष्ठ नहीं है। गुरु के कठोर वचन भी हितकारी औषधिवत् हैं। स्त्रियों की तरह हाव-भाव दिखाने वाला जैसे स्त्री नहीं हो जाता, उसी प्रकार झूठी गुणों की स्व प्रशंसा कर कोई गुणी नहीं हो सकता।[3]

अपना यश छिन्न-भिन्न नहीं करना। अपनी प्रशंसा नहीं करना। अपनी प्रशंसा सुनकर सज्जन लज्जित होता है तो अपने मुख से अपनी प्रशंसा कैसे करेगा? आप लोग पंच परमेष्ठी की कभी भी आसादना नहीं करना क्योंकि आसादना करने वाले अनंत संसारी होता है। असंयम का त्रियोग से त्याग करना। स्वसंघ पर संघ का अपवाद नहीं करना, क्योंकि इससे संसार वृद्धि होती है।[1]

15. परगण चर्या अधिकार

दूसरे संघ में जाने को परगण चर्या कहते हैं।[2]

साधु समूह को उपदेश देकर आचार्य अन्य संघ की ओर प्रस्थान करते हैं अन्यथा निम्न दोष होते हैं- आचार्य की आज्ञा का लोप, कठोर वचन, कलह, दु:ख, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यान में विघ्न और असमाधि ये नौ दोष होते हैं।[3] तथा ये दोष परगण में नहीं होते।

16. मार्गण अधिकार

अपनी रत्नत्रय विशुद्ध अथवा समाधिमरण कराने में समर्थ आचार्य के खोजने को मार्गण कहते हैं।[4]

कितनी दूरी तक एवं कितने समय तक खोज करें–जिसकी समाधि मरण की इच्छा है ऐसा मुनि 500, 600, 700 योजन तक अथवा इससे अधिक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापक की खोज (शोध) करता है।

500 योजन अर्थात् 2000 कोश 4000 मील 6000 कि. मी.
600 योजन अर्थात् 2400 कोश 4800 मील 7200 कि. मी.
700 योजन अर्थात् 2800 कोश 5600 मील 8400 कि. मी.

वह 1, 2, 3 वर्ष से 12 वर्ष खेद युक्त न होता हुआ जिनागम से निर्णीत निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करता है।[5]

---

(1) भ. आ. वि. 1944 (2) भ. आ. 372 (3) म. क. 364, 366, 371

निर्यापक की खोज से क्षपक को लाभ–निर्यापकत्व की खोज करने के लिये विहार करने से क्षपक को आचार शास्त्र, जीत शास्त्र, कल्प शास्त्र (प्रायश्चित्त ग्रंथ) इनके गुणों का प्रकाशन होता है आत्मा की शुद्धि होती है संक्लेश परिणाम नष्ट होते हैं आर्जव, मार्दव, लाघव (निर्लोभता) संतुष्टि, आह्लाद आदि गुण प्रकट होते हैं।

गमन क्रम–(1) रात्रि प्रतिमायोग धारण, (2) प्रश्न में और स्वाध्याय में कुशलता, (3) विहार पथ में सर्वत्र स्थानादि अप्रतिबद्ध रहना, (4) स्थंडिलशायी प्रासुक भूमि में मल-मूत्र विसर्जन करना, (5) साधुओं से संयुक्त रहना। ये निर्यापक की खोज करने वाले के 5 विशिष्ट कर्तव्य हैं।[1]

(1) रात्रि प्रतिमायोग–"3 उपवास करके चौथी रात में ग्राम, नगरादि के बाहर श्मशान, वनादि स्थान पर पूर्व या उत्तर में मुख करके नासाग्र दृष्टि एवं शरीर स्थिर करके सूर्योदय होने तक ध्यानस्थ रहना।

(2) प्रश्न और स्वाध्याय कुशल–विहार करते समय मार्ग में गृहस्थ आर्यिका, वृद्ध आदि से (भिक्षा स्थान के) रास्ते आदि के विषय में पूछ कर गमन करना। अन्यथा इष्ट ग्रमादि में नहीं पहुँच सकते हैं तथा स्वाध्याय करके आहारार्थ ग्रामादि में जाना।

(3) सर्वत्र अप्रतिबद्धता–मार्ग में पड़ने वाले, स्थान, श्रावक, यति इत्यादि में स्नेह युक्त नहीं होना। अन्यथा इष्ट स्थान तक नहीं पहुँच पायेंगे।

(4) स्थंडिलशायी–शरीर क्रिया, मल त्याग आदि के लिए प्रासुक स्थान देखना।

(5) साधुसंयुक्त–विहार करते समय सहायता करने वाले योग्य मुनियों के साथ विहार करना।"[2]

मैं आचार्य के पास जाकर आलोचना करूँगा इस भावना के साथ यदि रास्ते में आलोचना किये बिना ही मृत्यु हो जाये तो भी वह मुनि आलोचना से शुद्ध है। अथवा जिन आचार्य के पास आलोचना के लिये गया था उसके पूर्व यदि उनकी मृत्यु हो जाये तो भी वह आलोचना से शुद्ध है।[3]

आलोचना बिना आराधक नहीं–

प्रश्न–जिसने गुरु के सन्मुख अपने अपराध की आलोचना नहीं की और न गुरु के द्वारा

---

(1) म. क. 368, 383, 378, 379, 380 (2) भ. आ. वि. 67 (3) भ. आ. 387 (4) भ. आ. 67 (5) भ. आ. 403, 404

कहा गया प्रायश्चित्त ही किया वह कैसे आराधक होता है?

उत्तर–किये गये अपराध की आलोचना न करने पर मायाशल्य होती है और शल्य होने पर रत्नत्रय में शुद्धि नहीं होती। ऐसा जानकर जो शल्य को निकालने का भाव रखता है तथा संसार से भयभीत होने रूप संवेग और शरीर की अशुचिता, असारता एवं दु:खदायक देखकर इन्द्रिय जन्य सुखों को अतृप्ति करने वाले और तृष्णा को बढ़ाने वाले है ऐसा जानकर उनमें विरक्ति रूप उद्वेग द्वारा जिसकी रत्नत्रय की आराधना में तीव्र श्रद्धा होती है। ऐसा वह क्षपक शुद्धि के लिए गुरु के पास जाता है इससे वह आराधक होता है।[1]

निर्यापक के अन्वेषण में प्राप्त होने वाले गुण–(1) आचार शास्त्र (2) जीव शास्त्र के गुण का प्रकाशन (3) कल्प शास्त्र के गुण का प्रकाशन, (4) परिणामों की शुद्धि (5) संक्लेशता का अभाव (6) मार्दव गुण की प्राप्ति (7) आर्जव गुण की प्राप्ति।[2]

क्षपक को देखकर उस गण के वासी साधुओं की सामाचारी का क्रम–आंगतुक मुनि को आता देख वास्तव्य मुनि-जिनाज्ञा, वात्सल्य और प्रणाम हेतु शीघ्र ही खड़ा हो जाता है। यथायोग्य उपचार-विनय एवं सामान्य प्रश्न वार्ता करते हैं। पश्चात् तीन दिन तक वास्तव्य मुनि से जब आंगतुक मुनि ठहरने की अनुमति माँगे तो तीन दिन के लिये अवश्य ही संघ में सम्मलित कर लेना चाहिये तथा अभी प्रयत्न से परीक्षण नहीं हुआ है तो भी उसे शय्या संस्तर देना चाहिये तथा क्रिया चारित्र का बोध हेतु प्रतिलेखन की परीक्षा करें, 6 आवश्यक क्रिया, समितियों के पालन का परीक्षण करें। क्योंकि बिना परीक्षा किये ही यदि संघ में स्थान दिया गया है तो वास्तव्य आचार्य को भी उद्गमादि दोष लगेंगे। अत: पारस्परिक परीक्षा करें तथा प्रथम दिन विश्राम में व्यतीत कर दूसरे या तीसरे दिन वास्तव्य मुनि के पास जाकर आगंतुक को अपने जाने के मुख्य हेतु को विनयपूर्वक कहना चाहिए।[3]

आने वाला मुनि और उस गण के वासी मुनि प्रतिलेखना के द्वारा देखकर परस्पर में एक दूसरे के चरण और करण को जानने के लिए परीक्षा करते हैं। यहाँ चरण शब्द से समिति और गुप्ति कही है और करण शब्द से आवश्यकों का ग्रहण किया है। आचार्यों के उपदेश में भेद होने से साधुओं का समाचार अनेक प्रकार का हैं। इससे वह दुरवगम है। उसका जानना कठिन है उसको जानने के लिए वे परस्पर में परीक्षा करते हैं अथवा यह हमारे साथ रहने के योग्य है अथवा नहीं, यह जानने के लिए परीक्षा करते हैं।[4]

---

(1) म. क. 418 (2) भ. आ. वि. 405 (3) भ. आ. 406-409

परीक्षा के स्थान–(1) आवश्यक स्थान आदि (2) प्रतिलेखन (3) वचन (4) ग्रहण-निक्षेप (5) स्वाध्याय (6) विहार (7) भिक्षाग्रहण में परीक्षा करते हैं।[1]

1. आवश्यक स्थान परीक्षा–"संवर और निर्जरा के इच्छुकों को अवश्य ही करने योग्य सामायिक आदि को आवश्यक कहते हैं। उनका स्थान अर्थात् स्थिति यानि आवश्यक रूप परिणति का काल। आदि शब्द से दो बार नमस्कार , यथाजात, बारह आवर्त, चार बार सिर का नमन, मन वचन काय की शुद्धि इत्यादि क्रिया ग्रहण की है। चक्षु अथवा उपकरण से प्रतिलेखना करने पर, वार्तालाप में उपकरणों के ग्रहण और रखने में स्वाध्याय में, पैदल चलने में और भिक्षा ग्रहण में परीक्षा करते है कि यह सामायिक आदि करता है या नहीं? करता है, तो समय पर करता है या नहीं? अथवा द्रव्य सामायिक आदि करता है या भाव सामायिक आदि करता है। सामायिक आदि पाठ पढ़ते हुए और शरीर से उक्त क्रिया करते हुए द्रव्य सामायिक आदि होते है। सावद्य योग का त्याग करने पर, तीर्थंकर के गुणों का स्मरण करने पर, अथवा आचार्य, उपाध्याय आदि के गुणों का स्मरण करने पर, अपने अतिचारों की निन्दा गर्हा करने पर, त्यागने योग्य का त्याग करने पर, अथवा शरीर से ममत्व को दूर करने पर भाव सामायिक आदि होती है। उसमें प्रवृत्त होता है या नहीं, यह परीक्षा है।[2]

2. प्रतिलेखन परीक्षा–यह प्रतिलेखन योग्य है या नहीं? ऐसा आँखों से पहले देखता है या नहीं, कोमल हल्के उपकरण से प्रमार्जन करता है या नहीं? अथवा क्या जल्दी में प्रमार्जन करता है? क्या जीवों को पीड़ा पहुँचाता है? क्या दूर स्थान से उपकरणादि गिराता है? क्या प्रमार्जन के द्वारा विरोधी जीवों को मिलाता है? जो जीव आहार में लगें हैं, या आहार ग्रहण कर रहे हैं, जिन्होंने मुँह में अण्डे लिए हुए हैं, जो अपने निवास देश में स्थित हैं, मूर्छा को प्राप्त है ऐसे जीवों का प्रमार्जन-रक्षण करता है या नहीं, यह परीक्षा है।[3]

3. वचन परीक्षा–कठोर वचन, पर की निंदा, अपनी प्रशंसा करने वाले वचन, आरम्भ और परिग्रह में प्रवृत्ति कराने वाले वचन, मिथ्यात्व के सम्पादक वचन, मिथ्याज्ञान कराने वाले वचन, झूठे वचन अथवा गृहस्थों के योग्य वचन बोलता है।[4]

4. आदान निक्षेपण परीक्षा–जहाँ से जो ग्रहण करता है अथवा जहाँ जो रखता है उन दोनों के प्रमार्जनपूर्वक ग्रहण और निक्षेप करता है या नहीं, यह परीक्षा है।[5]

---

(1) भ. आ. वि. उत्थानिका 410 (2) भ. आ. 411 (3) भ. आ. 412, 413 (4) भ. आ. वि. 413 (5) भ. आ. 414

5. स्वाध्याय परीक्षा–कालादि की शुद्धिपूर्वक ग्रन्थ पढ़ता है या नहीं? अथवा किस ग्रन्थ को पढ़ता है और कैसे उसका अर्थ करता है?

6. विहार परीक्षा–अपने निवास देश से दूर, एक हाथ आदि प्रमाण, जन्तु रहित, छिद्ररहित, सम और जिसमें किसी का विरोध नहीं, रास्ता चलते लोग जिसे देख नहीं सकते ऐसे स्थंडिल प्रदेश में यह अपने शरीर मल को त्यागता है या इससे विपरीत में त्यागता है यह विहार की परीक्षा है।

7. भिक्षा ग्रहण परीक्षा–भिक्षाग्रहण में परीक्षा का मतलब है कि भ्रामरी वृत्ति से यह जैसी तैसी भिक्षा ग्रहण करता है या नौ कोटि से शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है। आनेवाले यति, गुरु के पास सविनय उपस्थित होकर निवेदन करता है कि भगवान साहाय्य प्रदान करके मुझ पर अनुग्रह करें।[1] ऐसा कहते हैं–

किन्तु युक्त चारित्र वाला मुनि हो किन्तु पूर्ण परीक्षा नहीं हो पायी तो उसे तीन दिन के वाद शय्या संस्तर भी नहीं देना चाहिये अर्थात् जो परीक्षा में अनुत्तीर्ण है वह अग्राह्य है किन्तु परीक्षा जिनकी शेष है वह भी अग्राह्य है।[2]

आगत मुनि यदि आलोचना नहीं करता, उद्‌गम, उत्पादन, एषणा दोषों से युक्त आहार लेता है फिर भी उसके साथ आचार्य रहे या साधुओं को रहने की अनुमति दें तो वह भी आगत मुनि की तरह सदोष है।[3]

17. सुस्थित अधिकार

पर का उपकार करने में और अपने प्रयोजन में सम्यक् रूप से स्थित आचार्य को सुस्थित कहते हैं।[4]

क्षपक निम्न आठ मुख्य गुणों से युक्त निर्यापकाचार्य का आश्रय लें।

निर्यापकाचार्य के 8 मुख्य गुण–(1) आचारवान (2) आधारवान् (3) व्यवहारवान् (4) प्रकारत्व (5) आयोपायदर्शित्व (6) अवपीड़क (7) अपरिस्रावी (8) सुखकारी।

(1) आचारवान्–इसका अभिप्राय यह है कि जो ग्रंथ रूप से स्वयं आचारांग को जानता है। स्वयं पाँच प्रकार के आचार का पालन करता है और दूसरों से पालन कराता है इस तरह पाँच आचारवान है पाँच प्रकार स्वाध्याय में लगना ज्ञानाचार है, जीवादि तत्त्वों के श्रद्धानरूप

परिणत होना दर्शनाचार है। हिंसादि से निवृत्ति रूप परिणति चारित्राचार है। चार प्रकार के आहार का त्याग, भूख से कम भोजन करना, भिक्षा के लिये जाते समय गृह आदि का परिमाण करना, रसों का त्याग, कायक्लेश, एकांत में निवास इत्यादि तप नामक आचार है, तप में अपनी शक्ति को न छिपाना वीर्याचार है।[1] अथवा जो सदा दस प्रकार के स्थितिकल्प में सम्यक् रूप से स्थित हैं वह आचारवान् है।

दस प्रकार के स्थिति कर्म एवं लक्षण–

"**अचेलकत्व**–सम्पूर्ण प्रकार के वस्त्र से शरीराच्छादन का त्याग।

उद्दिष्ट शय्या त्याग–अपने निमित्त से बनायी गई वसतिका का त्याग।

उद्दिष्ट आहार त्याग–अपने निमित्त से बनाये गये आहार का त्याग।

राजपिंड त्याग–राजा के तामसिक या एकान्त में आहार का त्याग।

कृति कर्मप्रवृत्त–6 आवश्यकों के 28 कृतिकर्मों को तथा अन्य कृतिकर्मों को तथा विधि करना।

व्रतारोपण अर्हत्व–दीक्षा योग्य शिष्यों को दीक्षा देना।

ज्येष्ठत्व–मुनि समुदाय में चारित्र आदि से विशिष्ट होना।

प्रतिक्रमण–7 प्रकार के प्रतिक्रमणों में यथा योग्य तत्पर रहना।

मास–चातुर्मास के अलावा 1 माह से कहीं अधिक न रहना।

पर्युषण–चातुर्मास में विहार नहीं करना।"[2]

आचार से रहित निर्यापकाचार्य का आश्रय लेने से हानि–ज्ञानाचार आदि से थोड़ा सा च्युत हुआ आचार्य उद्गम आदि दोषों से दूषित अशुद्ध वसति, उपकरण, संस्तर और भक्तपान की व्यवस्था करेगा तथा ऐसे परिचारक मुनियों को नियुक्त करेगा जिन्हें यह भय नहीं है कि इस प्रकार का असंयम करने पर महान कर्मबंध होगा और उससे हमारा संसार बढ़ेगा जो अनेक आपत्तियों का मूल है तथा वह क्षपक की सल्लेखना को लोगों पर प्रकाशित कर देगा। सुगंध माला आदि सेवन की अनुमति दे देगा। क्षपक के अशुभ परिणाम करने वाली अयोग्य कथा वार्ता करेगा और यह उचित है या नहीं यह विचार किये बिना क्षपक के आगे स्वच्छदंतापूर्वक

(1) भ. आ. वि. 414 (2) भ. आ. 416 (3) भ. आ. 417 (4) भ. आ. 67

बात करेगा। तथा स्वयं आचार से च्युत आचार्य क्षपक रत्नत्रय से डिगने पर रत्नत्रय में प्रवृत्ति और रत्नत्रय से च्युत होने का निषेध नहीं करेगा तथा क्षपक से कोई महान आरम्भ पूजा, विमान यात्रा, पट्टशाला आदि करायेगा।[3]

जो ज्ञानवान् नहीं उसका आश्रय लेने में दोष–''जिसमें अनंत अत्यन्त तीव्र दुःख रूप जल भरा है उस संसार सागर में भ्रमण करते हुए जीव बड़े कष्ट से मनुष्य भव प्राप्त करता है। उस संसार में देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, धर्म का सुनना उसे ग्रहण करना उस पर श्रद्धा होना तथा संयम से दुर्लभ है। इसी प्रकार परम्परा रूप से दुर्लभ संयम को पाकर क्षपक अल्पज्ञानी आचार्य के पास में वैराग्य करने वाली देशना प्राप्त नहीं करता है। सम्यक् उपदेश न प्राप्त करने से चिरकाल तक असंयम के त्यागपूर्वक संयम को धारण करके आधारत्व गुण से रहित आचार्य के पास में मरते समय संयम से गिर जाता है।[1] जैसे छोटे से बाँस को छेदना (काटना तो) शक्य है किन्तु उसे बाँसों के झाड़ में से खीचकर निकालना बहुत कठिन है। इसी प्रकार संयमी का भी मन विषयों से हटाना अल्पज्ञानी गुरु के लिए कठिन है। आशय यह है कि यद्यपि क्षपक ने रागद्वेष को जीतने की प्रतिज्ञा की तथापि शरीर की सल्लेखना करने पर जब भूख प्यास की परीषह सताती है तो वह श्रुत ज्ञान में उपयोग लगाये बिना जीतना असम्भव है किन्तु श्रुत ज्ञानदीप अल्पज्ञ आचार्य के पास में राग द्वेष में पड़कर चारित्र का आराधक नहीं रहता।[2]

किन्तु ज्ञानी आचार्य के द्वारा श्रुत का पान कराने से और योग्य शिक्षा रूप भोजन से उपकृत होने पर भूख प्यास से पीड़ित होते हुए भी ध्यान में स्थिर होता है। भूख और प्यास से पीड़ित उस क्षपक को अल्पज्ञानी आचार्य समाधि के साधन उपदेश आदि नहीं करता। कभी-कभी कोई अल्पज्ञानी क्षपक भूख-प्यास से पीड़ित हो शुभ भाव को छोड़ देता है और ऐसा रुदन करता है कि सुनने वालों को दया आती है, याचना करता है और दीनता प्रकट करता है।[3] अथवा सहसा चिल्लाने लगता है अथवा असमाधिपानक पीता है। अर्थात् बिना खड़े हुए असमय में जलादि पीना पान असमाधिपानक पीता है तथा यह धर्म कष्टदायक है इससे केवल श्रम ही होता है ऐसे निन्दायुक्त चित्त से मिथ्यात्व को प्राप्त होता है असमाधिपूर्वक मरण को प्राप्त होता है। अथवा वह संस्तर को दोष देता है। रोने चिल्लाने पर उसका तिरस्कार करो तो (संस्तर छोड़कर) वाहर भाग जायेगा। उसके रोने चिल्लाने पर या बाहर निकल जाने पर अथवा संघ से निकाल देने पर धर्म में दूषण लगता है। अतः ऐसी परिस्थिति में अज्ञानी आचार्य प्रतिकार न जानता हुआ

---

(1) भ. आ. 419-421 (2) भ. आ. वि. 423 (3) भ. आ. 426-428

क्षपक का जीवन नष्ट कर देता है।[4]

गृहीतार्थ ज्ञानी आचार्य की विशेषतायें–गृहितार्थ (योग्य) आचार्य विधि पूर्वक क्षपक का समाधान करने की क्रिया करता है। उसके कानों में धर्मोपदेश की आहुति देता है उसके उपगृहीत होकर ध्यान रूपी अग्नि भड़क उठती है। वह क्षपक की इच्छा पूर्ति करके जो वह चाहता है। वह देकर समाधि करता है अर्थात् रत्नत्रय में उसका मन स्थिर करता है तथा शारीरिक बाधा का प्रतिकार करके और अन्य उपायों से जैसे शांतिदायक वचन उपकरण दान और प्राचीन क्षपकों के दृष्टान्त आदि से समाधि करता है।[1]

निर्यापक अर्थात् सेवा करनेवाले यतियों ने जिस क्षपक को यह कहकर कि आप परीषह सहन नहीं करते और आपका चित्त चंचल है, हमें आपसे अब कुछ भी प्रयोजन नहीं है, छोड़ दिया है, उसको भी देखकर बहुश्रुत आचार्य 'मत डरो' इस प्रकार अभय देते हैं। आश्वासन देते हैं, और रत्नत्रय में एकाग्रता बनाये रखते हैं। तथा असंयम वचनों का निवारण करते हैं कि इस महात्मा को आपसे ऐसा नहीं कहना चाहिए। इनके समान कठिनता से छोड़ने के योग्य शरीर और आहार को कौन छोड़ने में समर्थ है। इस प्रकार प्रोत्साहन देते हैं। शास्त्र के अर्थ को हृदयंगम करने वाले आचार्य उदीर्ण हुई भूख-प्यास की वेदना को नष्ट करने में समर्थ प्रासुक द्रव्यों को देना जानते हैं तथा वात, पित्त, कफ का प्रकोप होने पर उनका प्रतिकार करना भी जानते हैं। अथवा वह आचार्य क्षपक को शास्त्रोपदेश रूपी पेय और अनुशासनरूप भोजन देते हैं। उस पान और भोजन से भूख और प्यास से पीड़ित भी क्षपक ध्यान में एकाग्रचित्त होता है।[2]

आधारवान्–जो चौदह, दस अथवा नौ पूर्व के धारी हो, महाबुद्धिशाली हो, सागर की तरह गम्भीर, कल्प व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता, वह ज्ञानी आधारवान् होता है। वह समझता है कि नन वचन काय के विकल्प रूप ये परिणाम अशुभ है, शुभ परिणाम पुण्य कर्म के आस्रव के कारण है और शुद्ध परिणाम शुभ और अशुभ कर्मों के संवर में कारण है तथा वह रात-दिन श्रुत का उदेश करते हुए शुभ और शुद्ध परिणामों में क्षपक को लगाता है। इसलिए वह दर्शन, चारित्र और तप का आधारवाला होने से आधारवान होता है। ज्ञान आधार है और जो ज्ञानवान है वह आधारवान है।[3]

---

(1) भ. आ. 432-435 (2) भ. आ. गा. 436 (3) भ. आ. 438-440 (4) भ. आ. 441-442

अयोग्य निर्यापकाचार्य से हानि–जिसने सूत्र के अर्थ को ग्रहण नहीं किया है ऐसा आचार्य उस क्षपक के चतुरंग को नष्ट कर देता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप ये चार अंग जिस मोक्षमार्ग के होते हैं वह चतुरंग है। लोक में जो सारभूत निर्वाण है उसका चतुरंग-मोक्षमार्ग उपकारक है वह इसे नष्ट कर देता है। शायद कोई कहे कि यदि चतुरंग नष्ट हुआ तो पुनः प्राप्त हो जायेगा? इस शंका का निरास करते हैं–इस जन्म में चतुरंग मोक्षमार्ग के नष्ट होने पर चतुरंग सुलभ नहीं है–सुख से नहीं मिलता। क्योंकि जो चतुरंग को नष्ट कर देता है वह मिथ्यात्व रूप परिणत होकर कुयोनि में चला जाता है तब वह कैसे चतुरंग को प्राप्त कर सकता है यह कथन का तात्पर्य है।[1]

व्यवहारवान्–जो पाँच प्रकार के व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त को तत्त्वरुप से विस्तार के साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्यों का प्रायश्चित्त देना देखा है और स्वयं भी दूसरों को प्रायश्चित्त दिया है वह आचार्य व्यवहावान् होता है। जो प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता नहीं होता वह अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रायश्चित्त देता है किन्तु उससे दूसरे के दोष की विशुद्धि नहीं होती। प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता होते हुए भी यदि उसने अन्य आचार्यों को प्रायश्चित्त देते न देखा हो तो प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है। इसलिए प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञान, प्रायश्चित्त कर्म का देखना तथा प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें होते हैं उस आचार्य को व्यवहारवान् कहते हैं।[2]

आचार्य निम्न पाँच प्रकार के व्यवहार से युक्त होते हैं–''जो जीव (जीत), श्रुत, आज्ञा, आगम और धारणा इन 5 प्रकार के व्यवहार (प्रायश्चित्त) के ज्ञाता है।

1. **जीव (जीत) प्रायश्चित्त**–पूर्व आचार्यों द्वारा जिसका विधान है उसे वर्तमानाचार्य कहें अर्थात् प्राचीन प्रायश्चित्त विधि को जीत प्रायश्चित्त कहते हैं।
2. **श्रुत**–चौदह पूर्वों में जिसका वर्णन है।
3. **आगम**–ग्यारह अंगों में जो वर्णित है
4. **आज्ञा**–अन्य स्थान में स्थित अन्य आचार्य के द्वारा आलोचित गुरु के दोष को ज्येष्ठ शिष्य के हाथ भेजना आज्ञा है।
5. **धारणा**–कोई आचार्य या साधु कारणवशात् अन्यत्र जाने में असमर्थ है तब वह पूर्व दृष्ट,

---

(1) भ. आ. 443-444 (2) भ. आ. गा. 445-447 (3) भ. आ. वि. 430

श्रुत, प्रायश्चित्त विधि को स्वयं करता है।[3]

प्रायश्चित्त शास्त्रों को जाने बिना प्रायश्चित्त देने से अपयश एवं दीर्घ संसार होता है।

प्रायश्चित्त करने का क्रम–आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीर, बल, प्रव्रज्याकाल, आगम और पुरुष को जानकर प्रायश्चित्त देते हैं।[1]

द्रव्य, क्षेत्रादि का वर्णन–द्रव्य के तीन भेद हैं–सचित्त, अचित्त और मिश्र। पृथ्वी, जल, आग, वायु, प्रत्येककाय, अनंतकाय और त्रस इन्हें सचित्त द्रव्य कहते हैं। जीवों से रहित तृण, फलक आदि अचित्त द्रव्य है। जीवों से सम्बद्ध उपकरण मिश्र है इस प्रकार द्रव्य प्रतिसेवना के तीन भेद है। वर्षा में आधा कोस अथवा आधा योजन जाना सम्मत है। उससे अधिक क्षेत्र में जाना क्षेत्र प्रतिसेवना है वर्जित क्षेत्र में जाना, विरुद्ध राज्य में जाना, कटे-टूटे मार्ग से जाना, ऐसे मार्ग का आधा भाग जाने पर वहां से अरक्षणीय मान कर लौट आना अथवा उन्मार्ग से जाना, अंत:पुर में प्रवेश करना, जहाँ जाने की आज्ञा नहीं है ऐसी गृहभूमि में जाना इत्यादि के द्वारा क्षेत्र प्रतिसेवना करना। आवश्यक काल में छह आवश्यक न करके अन्य काल में करना, वर्षाकाल के नियम का उल्लंघन करना इत्यादि काल प्रतिसेवना है। घमण्ड, प्रमाद, अनाभोग, भय, प्रदोष आदि परिणामों में प्रवृत्ति भाव प्रतिसेवना है। इस प्रंकार द्रव्य प्रतिसेवना आदि के द्वारा अपराध का निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए अथवा प्रकृति के द्रव्यादि को जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। आहार के संबंध में ज्ञान होना द्रव्य परिज्ञान है, रस बहुल (जिसमें रस की अधिकता हो) धान्य बहुल (जिसमें अन्न की अधिकता हो) शाक बहुल (जिसमें शाक-सब्जी की अधिकता हो) यवागू-हलवा, लापसी, शाकमात्र अथवा पानकमात्र। आहार के साथ दोषी की प्रकृति जानकर उसे आहार बतलाना चाहिये। प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्र का भी ज्ञान होना चाहिए कि यह क्षेत्र जल बहुल है या जल की कमी वाला है अथवा साधारण है। काल का भी ज्ञान होना चाहिए कि गर्मी के दिन हैं या शीत के दिन हैं अथवा साधारण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, संतोष आदि भाव हैं अथवा क्रोधादि भाव हैं। करण-परिणाम का अर्थ है प्रायश्चित्त करने के परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यों लेना चाहता है? क्या यह साथ रहने के लिए प्रायश्चित्त में प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मों की निर्जरा के लिए प्रवृत्त हुआ है। उसका प्रायश्चित्त में उत्साह कैसा है? शरीर में बल कितना है, दीक्षा लिए कितना काल हुआ है, शास्त्र ज्ञान थोड़ा है या बहुत है और वैराग्य में तत्पर है या नहीं।[1]

---

(1) भ. आ. वि. 431 (2) भ. आ. गा. 450 (3) भ. आ. वि. 451

प्रायश्चित्त शास्त्र को जाने बिना जो प्रायश्चित्त देता है वह निम्न प्रकार दोष का भागी होता है–जो प्रायश्चित्त शास्त्र को ग्रंथ रूप से, अर्थरुप से और कर्म रूप से नहीं जानता तथा अतिचार के विनाश के इच्छुक मुनि द्वारा जिसका व्यवहार किया जाता है वह व्यवहारणीय है। आलोचना आदि नौ प्रकार प्रायश्चित्त उसे जो देता हैं वह आचार्य संसार रूपी कीचड़ में फंसकर दुःख उठाता है तथा अपयश पाता है। लोग कहते है यह तुण्डाचार्य है जो कुछ भी प्रायश्चित्त दे देता है दूसरों के दोष की विशुद्धि नहीं करता। संसार से भीरू साधुओं को व्यर्थ ही कष्ट देता है तथा उन्मार्ग का उपदेश देने से और सन्मार्ग का नाश करने से दर्शनमोहनीय नामक कर्म बंध करता है। अतः अज्ञानी को प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए यह इस गाथा का अभिप्राय है। यह आचार्यों की शिक्षा है। हम आचार्य हैं। हमने जो प्रायश्चित्त दिया है उसे करो इस प्रकार कुछ भी नहीं बोलना चाहिए। प्रायश्चित्त शास्त्र के ज्ञाता ही प्रायश्चित्त देने में समर्थ होते हैं।[1]

जैसे अनिपुण वैद्य व्याधि की चिकित्सा नहीं करता वैसे ही प्रायश्चित्त को न जानने वाले आचार्य रत्नत्रय की विशुद्धि के इच्छुक को शुद्ध नहीं करता।[2] तात्पर्य यह है कि एकमात्र आचार्य परमेष्ठी ही प्रायश्चित्त देने के अधिकारी हैं शेष उपाध्याय, साधु आदि प्रायश्चित्त देने के अधिकारी नहीं है तथा आचार्यों में भी सभी आचार्य प्रायश्चित्त देने के अधिकारी नहीं है अपितु उपर्युक्त प्रकार से जिन्हें ज्ञान है अध्ययन है और अनुभव है वे ही प्रायश्चित्त दें, अन्य नहीं।

4. प्रकारत्व (प्रकुर्वित्व)–जो क्षपक को वसति आदि में प्रवेश कराने, निकालने, खड़े करने, संस्तर, उपधि शोधन करना, क्षपक को करवट दिलाना, बिठाना, मल–मूत्र का त्याग कराना इत्यादि क्रियाओं में जो निपुण हैं सेवा, वैय्यावृत्ति विधि में शक्ति और भक्ति से सदा लगा रहता है अर्थात् अपने श्रम का विचार न करता हुआ क्षपक के उपकार में प्रवृत्त रहता है। जिससे रोग से ग्रस्त क्षपक आचार्य के सेवागुण से सुख प्राप्त करता है, अतः क्षपक को सेवा करने वाले आचार्य के समीप ठहराना चाहिए।[3]

5. आयोपायदर्शित्व–क्षपक पूर्व में प्रतिज्ञा करता है कि दीक्षा लेने के दिन से समाधि धारण करने के दिन तक रत्नत्रय में जो दोष लगे हैं उन सबको मैं गुरु के सामने निवेदन करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जब अपराध निवेदन का समय आता है तो वह अपना बड़प्पन जानकर अपराधों को जिस प्रकार किये गये हैं उसी प्रकार से कहने में लज्जा करता है तथा पश्चात् वह क्षपक डरता है कि मेरे अपराध को जानकर ये सब मेरी अवज्ञा करेंगे। उनकी अभिलाषा

(1) भ. आ. 452

अपनी पूजा कराने की है कि मेरी वन्दना करे, मेरे लिए उठकर खड़े होवें, किन्तु अपराध ज्ञात होने पर तो पूजा नहीं करेंगे।[4]

यद्यपि वह अपने को सम्यक् आचार में स्थापित करना चाहता है किन्तु अपराधी जानकर यह मुझे त्याग देंगे इससे डरता भी है। अत: अपने अपराध और शरीर को त्यागने के लिए तत्पर होते हुए भी गुरु से अपने दोषों को नहीं कहता। उस, अपने दोषों की आलोचना न करने अथवा आलोचना न करने वाले अथवा आलोचना करते हुए भी मायाचारपूर्वक आलोचना करनेवाले क्षपक को आय और उपाय को दिखलाने वाले आचार्य आलोचना के गुण और आलोचना न करने के दोष बतलाते हैं कि जो अपना अपराध नहीं कहता उसको दोष होता है।

आचार्य समझाते हैं कि– इस संसार का पार पाना बड़ा कठिन है इसलिए चारों गति में भ्रमण रूप संसार रूपी महासमुद्र में भ्रमण करते हुए 'श्रामण्य' अर्थात् चारित्र को–संयम को जीव बड़े कष्ट से प्राप्त करता है किन्तु अज्ञानी उस संयम को सशल्य मरण से नष्ट कर देता है यद्यपि मिथ्यात्व, माया और निदान के भेद से शल्य के अनेक भेद हैं। तथापि यहाँ प्रकरणवश मायाशल्य लिया है। मायाशल्य सहित मरण से अज्ञानी संयम को नष्ट करता है जैसे पैर में कांटा लगने पर पहले पैर में छिद्र होता है फिर उसमें मांस का अंकुर उग आता है और वह नाड़ी तक पहुँचता है। पीछे उस पैर में साँप की बाँबी जैसे दुर्गंध युक्त छिद्र हो जाते हैं। अर्थात् वह पक जाता है।[1]

इसी प्रकार लज्जा, भय और गारव से प्रतिबद्ध थोड़ा-सा भी भावशल्य यदि दूर न किए जाए तो व्रत, शील और गुणों को नष्ट करता है। लज्जावश साधु अपने अपराध को छिपाता है या अपराध प्रकट करने पर गुरुजन क्रुद्ध होंगे, मुझे त्याग देंगे अथवा बड़ा प्रायश्चित्त देंगे इस भय से दोष को छिपाता हैं अथवा मेरी जो महती प्रसिद्धि है कि तपस्वी उत्तम संयमी है वह नष्ट हो जायेगी इस भय से दोष को छिपाता है। यह मायाशल्य है। इसे यदि दूर नहीं किया गया तो क्षपक के व्रत, शील, गुण नष्ट हो जाते हैं तथा पीछे दीक्षा धारण करके जो बुद्धि लाभ किया था वह नष्ट हो जाता है जिससे चौरासी लाख योनियों में जन्म मरण रूपी भँवरों से युक्त भयंकर भवसमुद्र में अनंत काल तक भ्रमण करता है, तथा उस भव समुद्र में भयंकर महावेदना वाली योनियों में भ्रमण करता हुआ अनंत काल तक हजारों दु:ख भोगता है। इसलिए संसार से भीत यति को प्रमादवश एक मुहूर्त मात्र के लिए भी

---

(1) भ. आ. वि. 454 (2) भ. आ. 455 (3) भ. आ. 457-460 (4) भ. आ. 462-464

शल्य सहित रत्नत्रय के साथ रहना उचित नहीं हैं। उक्त गुणवाले आचार्य के पादमूल में उसे अपने शल्य को निकाल देना चाहिए। जिनागम के श्रद्धालु और जन्म-मरण के दुःख से भीत क्षपक को भय और लज्जा को छोड़कर आर्जव और मार्दव से युक्त होना चाहिए। धीर क्षपक पुनर्जन्म रूपी लता के मूल सम्पूर्ण शल्य को उखाड़कर संसार के भय से उत्पन्न किये चारित्र को धारण कर अनंत भवसागर से भी तर जाते हैं।[1]

इस प्रकार यदि गुरु क्षपक को आलोचना अर्थात् अपने अपराध को कहने के गुण और दोष न बतलावे तो वह क्षपक पूर्वोक्त मायाशल्य दोष से निवृत्त न हो और निःशल्य नामक गुण से युक्त न हो। अतः आय-उपाय के दर्शी आचार्य के पादमूल में रहने से क्षपक दोष से निवृत्त होता है और गुण से युक्त होता है। अतः क्षपक को गुण दोष दिखलाने वाले आचार्य के पादमूल में अपने को रखना चाहिए ऐसा करने से रत्नत्रय की आराधना निश्चित ही होती हैं।[2]

6. अवपीड़क (उत्पीड़क)–जो ओजस्वी-बलवान्, तेजस्वी प्रतापवान्, वर्चस्वी- प्रश्नों का उत्तर देने में कुशल, प्रसिद्धि कीर्तिशाली और सिंह के समान आचार्य होते हैं उन्हें जिन भगवान उत्पीड़क नाम से कहा है।[3]

आलोचना न करनेवाले क्षपक को निर्यापकाचार्य का उपदेश मृदुवचनों द्वारा : जो अपराध नहीं कहता उस क्षपक को समझाने वाले आचार्य को एकांत ने स्नेह से भरे, कानों को सुखकर और हृदयग्राही सुखदायक वचनों से शिक्षा देना चाहिए। प्राप्त सन्मार्ग रत्नत्रय के निरतिचार पालन में सावधान हे आयुष्मान्! लज्जा, भय और मान छोड़कर दोषों का निवेदन करो। गुरुजन माता-पिता के समान होते हैं उनसे कहने में लज्जा कैसी? वे अपने दोष की तरह दूसरे यतियों के दोष किसी से नहीं कहते। जो यति धर्म पर मिथ्यादोषारोपण नष्ट करने में तत्पर रहते हैं वे क्या अपयश फैला सकते हैं? मोक्षमार्ग में प्रधान सम्यग्दर्शन है और यतिजन में दूषण लगाना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। रत्नत्रय रूपी कमलों का वन यदि अतिचार रूप हिमपात से नष्ट हो तो वह शोभित नहीं होता। पर निंदा से नीच गोत्र कर्म का आस्रव होता है। जो दूसरों की निंदा करता है वह स्वयं अनेक जन्मों में निंदा का पात्र बनता है। दूसरे के मन को असह्य संताप देनेवाले के असातावेदनीय कर्म का बंध होता है। साधुजन भी निंदा करते हैं कि अपने धर्म पुत्र को यह इस प्रकार अपयशरूपी कीचड़ से क्यों लिप्त करता है। इस प्रकार दूसरों के

---

(1) भ. आ. 462-465, 467

दोषों को प्रकट करना अनेक अनर्थों का मूल है। अत: कौन समझदार उसे करना पसन्द करेगा। यदि मृदु वचनों से समझाये जाने पर कोई अपने दोषों को नहीं उगलता है तब–

कठोर वचनों द्वारा–हमारे सामने से दूर हो जाओ। आपको हमसे अब क्या प्रयोजन है? जो अपने शरीर में लगे मल को धोना चाहता है वह काँच के समान निर्मल जल वाले सरोवर के पास जाता है अथवा जो महान रोग रूपी सर्प से डसा गया है और उसे दूर करना चाहता है वह वैद्य के पास जाता है। इसी प्रकार जो रत्नत्रय में लगे अतिचारों को दूर करना चाहता है. उसे गुरुजन के पास जाना चाहिए आपको अपने रत्नत्रय की शुद्धि करने में आदर नहीं है तब इस क्षपक का रूप धारण करने से क्या लाभ? यह सल्लेखना केवल चार प्रकार के आहार का त्याग करने मात्र से नहीं होती। किन्तु इसके लिए कषाय को कृश करना चाहिए। तभी यह सल्लेखना होती है। इसी से संवर और निर्जरा होती है। कषाय तो नवीन कर्मों के आस्रव और उनके स्थितिबंध को करती है। अत: त्यागने योग्य है।[1]

उन कषायों में माया अत्यन्त खराब है वह तिर्यञ्चगति में ले जाती है। आप उसे छोड़ने में असमर्थ हैं अत: आप संसार समुद्र के तिर्यञ्चभव रूपी भँवर में फँस गये हैं। वहाँ से निकलना अत्यन्त कठिन हैं वस्त्र मात्र के त्याग से अपने को निर्ग्रन्थ मानने का अभिमान करना भी झूठा है। यदि कोई इतने से ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे। चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह के त्याग से भावनैर्ग्रन्थ्य होता है। वही मुक्ति का उपाय है। भावनैर्ग्रन्थ का उपाय है दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग। वह मुमुक्षु के लिए उपयोगी है। जीव और पुद्गल द्रव्य के संबंध मात्र से कर्मबंध नहीं होता, किन्तु उसके निमित्त से होने वाले जीव के परिणामों से कर्मबंध होता है। अतिचार सहित सम्यग्दर्शन आदि मुक्ति के उपाय नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। क्या यह जिनागम का वचन आपके कानों में नहीं गया? निरतिचार होना ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समीचीनता है और वह निरतिचारता गुरु के द्वारा कहे प्रायश्चित्त को करने पर ही होती है। गुरु भी उसी को प्रायश्चित्त देते हैं जो आलोचना करता है। अत: आप या तो दूर भव्य हैं या अभव्य हैं। यदि निकटभव्य होते तो इस प्रकार का महामाया रूपी शल्य क्यों होती। तुम यतिजनों के द्वारा वंदना करने योग्य नहीं हो। क्योंकि आगम में कहा है–बुद्धिमान् को संयमी और सम्यक्रूप से समाहित श्रमण की वंदना करनी चाहिए। जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, निंदा-प्रशंसा में जिसका चित्त समान रहता है वही श्रमण या समण होता

---

(1) भ. आ. 468-473 (2) भ. आ. 474-475 (3) भ. आ. 480

है। दोष कहने पर लोग मेरी निंदा करेंगे, प्रशंसा नहीं करेंगे ऐसा विचार कर यदि आप आलोचना नहीं करते, तब आप कैसे समण (समान) हैं और कैसे वंदनीय हैं। इस प्रकार कहकर अवपीड़क आचार्य उसके मुख से दोष उगलवाते हैं।''[2]

हितकारक वचनों द्वारा–''जैसे बालक के हित की चिंता में तत्पर माता चिल्लाते हुए भी बालक को पकड़कर उसका मुँह फाड़कर घी पिलाती है। उसी प्रकार आचार्य भी कुटिल क्षपक के मायाशल्य रूप दोष को निकालते हैं। जो कड़वी औषधि की तरह पीछे उस क्षपक के लिए हितकारी होता है। जो गुरु शिष्य के दोषों का निवारण नहीं करता, वह जिह्वा से मधुर बोलने पर भी भद्र नहीं है और जो गुरु दोषों का निवारण करता हुआ पैर से मारता भी है वह भद्र है।''[1]

दोषों को दूर करने वाले आचार्य की भद्रता–अपने काम में तत्पर किन्तु दूसरों का हित करने में आलसी मनुष्य लोक में बहुत हैं। किन्तु अपने कार्य की चिंता तथा दूसरों के कार्य की चिंता करने वाले मनुष्य लोक में दुर्लभ हैं जो अपने ही कार्य की चिंता में तत्पर होते हुए दूसरों के कार्य को भी कठोर और कटुकवचनों से साधते हैं वे पुरुष लोक में अत्यन्त दुर्लभ हैं।[2]

आचार्य के द्वारा किया जाने वाला उपकार–आचार्य यदि क्षपक को पीड़ित न करे तो वह मायाशल्य से न निकले और मायाशल्य से निकले बिना निरतिचार रत्नत्रय गुण में प्रवृत्त न हो। यदि आचार्य क्षपक के सूक्ष्म अथवा स्थूल दोषों को न उगलवाये तो यह क्षपक उन सूक्ष्म व स्थूल से निवृत नहीं होगा और न ही गुणों में प्रवृत्त होगा और दोषों को दूर किये बिना तथा गुण में लगे बिना आराधक कैसे हो सकता है? आराधना के लिए गुरु के पास आकर भी यदि गुरु अवपीड़क न हो तो उक्त बात नहीं बन सकती है। इसलिए उत्पीड़क आचार्य को क्षपक के सब दोष उगलवाना चाहिए, क्योंकि क्षपक का हित इसी में है।[3]

7. अपरिस्रावी–जैसे तप्त तवा जल को सोख ही लेता है उसे फिर उगलता नहीं है उसी तरह क्षपक द्वारा कहे गये दोषों को आचार्य सोख लेता है फिर कभी उगलता नहीं है। वह आचार्य अपरिस्रावी गुण से युक्त होता है।[4]

यदि निर्यापकाचार्य क्षपक के दोषों को कहता है तो वह जिनधर्म से विहीन है। क्षपक के दोष प्रकट करने वाले आचार्य का चतुर्विध संघ नष्ट हो जाता है।[5]

---

(1) भ. आ. वि. 477 (2) भ. आ. 479

शिष्य द्वारा आलोचित दोषों को गुप्त न रखने वाला आचार्य वोषी है—भिक्षु विश्वासपूर्वक अपने दोषों को आचार्य से कहता है। कोई आचार्य जो जिन भगवान के द्वारा कहे गये धर्म से भ्रष्ट होता है, वह भिक्षु के द्वारा आलोचित दोषों को दूसरे से कह देता है कि इसने यह अपराध किया है अर्थात् ऐसा करने वाला आचार्य जिन धर्म बाह्य होता है।[1]

उस आलोचित दोष को प्रकट करने वाले आचार्य ने ऐसा करके उस साधु का ही त्याग कर दिया क्योंकि उसने अपने चित्त में यह विचार नहीं किया कि मेरे द्वारा इसके दोष प्रकट कर देने पर यह लज्जित होकर दुःखी होगा अथवा आत्मघात कर लेगा अथवा कुद्ध होकर रत्नत्रय को छोड़ देगा तथा उस आचार्य ने अपनी आत्मा का त्याग किया, गण का त्याग किया, संघ का त्याग किया। इतना ही नहीं, उसके मिथ्यात्व की आराधना विषयक दोष भी होता है।[2]

पर यह बात उन्हीं शिष्यों में लागू होती है, जो भव भीरु हो बार-बार दोष नहीं करते पर जो उद्दण्डी हो दोषों को छिपाते हैं अथवा सार्वजनिक रूप से यह कहते हैं कि मेरे से कोई दोष नहीं होता अथवा छोटे दोषों की आलोचना करके बड़े दोष छिपा लेते हैं। और आम लोगों से कहते हैं—कि मैंने सभी दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ले लिया है। आचार्य उसे सहज प्रायश्चित्त नहीं देते अथवा दो-तीन वा संघ की साक्षी में प्रायश्चित्त देते हैं अथवा उसके दोष सार्वजनिक कहते हैं। ताकि लोगों का भ्रम मिटे और वह सावधान हो जाये।

8. सुखकारी—क्षपक की सेवा वैय्यावृत्ति करने वाले यतिजन सेवा में प्रमाद करके क्षपक की (1) शय्या को समय पर ठीक से न लगाने से, (2) आसन बिछाने में देर करने से, (3) सुंदर तरीके से न बिछाने से, (4) आहार पानी की व्यवस्था में देरी करने से, (5) अपमान जनक वचन बोलने से, (6) असंयमी गृहस्थों के निमित्त इत्यादि हेतुओं से क्षपक को कोप उत्पन्न होता है।

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि निमित्तों से तीव्र वेदना होने पर भी क्षपक कुपित होता है। संयम की मर्यादा तोड़ने की इच्छा करने लगता है। समाधि के नियमों का भंग करने लग जाता है। उस समय निर्यापकाचार्य अत्यन्त शांत भाव से, धीरता पूर्वक क्षपक के चित्त को प्रसन्न करते हैं। आचार्य यदि शांत परिणामी न हो तो- कुपित हो डांटेगा, अभिमानी होंगे तो क्षपक को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करेंगे। क्रोधी होंगे तो—क्षमाभाव नहीं रखेंगे। तेजस्वी नहीं होंगे तो—अपने

---

(1) भ. आ. 481-483 (2) भ. आ. 484-485 (3) भ. आ. 486-487 (4) भ. आ. 488
(5) म. क. 506, 512

वचनों का क्षपक पर प्रभाव नहीं डाल पायेंगे। अतः उक्त गुणों से संयुक्त होना चाहिए।[3]

निर्यापकाचार्य ज्ञान रूपी रत्नों की मंजूषा होते हैं अर्थात् चारों अनुयोगों में प्रवीण महाबुद्धिशाली होते हैं। आराधना और वैराग्य विषयक कथा वादन में प्रवीण, हेयोपादेय रूप विवेक से सम्पन्न, समाधि विषयक ज्ञान में प्रयत्नशील, धीर गुणवाले आचार्य ही क्षपक को प्रसन्न कर सकते हैं। वे निर्यापकाचार्य बड़ी ही गंभीर, मधुर, कर्णप्रिय, शिष्य के चित्त को तत्काल प्रसन्न करने वाली, सुखदायक क्षपक के विस्मृत हुये चित्त में पुनः स्मरण कराने में समर्थ ऐसी श्रेष्ठ वाणी द्वारा क्षपक के लिए दिव्य देशना देते हैं। जो महाप्रज्ञ निर्यापकाचार्य क्षपक को हितकारक उपदेश देकर उसे सुखी बनाते हैं वे सुखकर गुण सम्पन्न हैं।[1]

जैसे नौका चलाने का अभ्यासी बुद्धिमान नाविक तरंगों से क्षुभित समुद्र में रत्नों से भरे जहाज को धारण करता है। वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणों से पूर्ण, किन्तु परीषह रूप लहरों से चंचल और तिरछे हुए क्षपक रूपी जहाज को मधुर और हितकारी उपदेशों से धारण करता है उसका संरक्षण करता है। यदि आचार्य स्मृति की स्थिरता रूप धैर्य को बल देने वाली और आत्मा का हित करने वाली मधुर वाणी क्षपक के कानों में सुनाये तो मोक्ष सुख को लाने वाली आराधना को क्षपक छोड़ बैठे। इस प्रकार निर्यापकत्व गुण से युक्त आचार्य क्षपक का निर्यापक होता है वह उसका उपकारी होता है।[2]

18. उपसंपद अधिका

उपसंपद–आचार्य के चरणमूल में गमन करना उपसंपद (उपसंपदा) है।[3]

गुरुकुल में अपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपदा शब्द अभिप्राय है।[4]

ज्ञान और चारित्र से सम्पूर्ण क्षपक निर्यापक के आचारत्व आदि गुणों से युक्त होकर आचार्य को खोजकर उनके निकट जाकर, मन, वचन, काय से छह आवश्यकों को पूर्ण रूप से करके निर्यापकाचार्य की वन्दना करता है और विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर अंजुलि बनाकर उन आचार्य श्रेष्ठ से इस प्रकार कहता है, "आप द्वादशांग श्रुत सागर के पारागामी हो, आचार आदि बारह जिसके अंग है वह द्वादशांग श्रुत समुद्र के समान है आपने उसे पार कर लिया है तथा श्राम्यन्ति अर्थात् जो तपस्या करते हैं वे श्रमण हैं। उनका समुदाय श्रमण संघ है उसके आप

(1) भ. आ. 490 (2) भ. आ. 491 (3) म. क. 517-519

निर्यापक हैं। मैं आपके चरणों में बैठकर अपने श्रामण्य को उद्योतित करूँगा। दीक्षा ग्रहण करने से लेकर जो आजतक दोष किये हैं उनकी दोष रहित आलोचना करके मैं दर्शन, ज्ञान और चारित्र को शल्य रहित होकर पालन करना चाहता हूँ।[5]

इस प्रकार उस उत्तम चारित्र वाले क्षपक के द्वारा अपना भार त्यागने पर वाचक आचार्य कहते हैं–हे द्रव्य और भाव रूप अगार (घर) का त्याग करने वाले अनगार! तुम बिना किसी विघ्न बाधा के उत्तम अर्थ रत्नत्रय रूप द्रव्य की साधना करो। हे श्रमण! तुम धन्य हो-पुण्यशाली हो, जो तुमने चार गतियों में परिभ्रमण रूप संसार में जो दुःख है, उन दुःखों को नष्ट करने पर तत्पर आराधना पताका को ग्रहण करने का निश्चय किया। रत्नत्रय की आराधना से कर्मों का विनाश होता है। उनका विनाश होने से दुःख से छुटकारा होता है। विश्वस्त होकर तब तक बैठो। अपना चित्त व्याकुल मत करो। हम वैय्यावृत्य करने वालों के साथ इस विषय पर विचार करते हैं।[1]

उसके पश्चात् मार्ग को जाने वाले आचार्य क्षपक के रत्नत्रय की आराधना करने में उत्साह की परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करने का उत्साह है या नहीं है तथा दूध-भात आदि द्रव्य को ग्रहण करने में इसकी लोलुपता है या ग्लानि है ऐसी परीक्षा करते हैं। यहाँ दूध-भात मनोज्ञ आहार का उपलक्षण है। अतः आहार के सम्बन्ध में उसकी परीक्षा करते हैं। यह परीक्षा समाधि के निमित्त की जाती है।

19. परीक्षा अधिकार

परीक्षा–गण, परिचारक, आराधक, उत्साह शक्ति की तथा आराधक आहार की अभिलाषा छोड़ने में समर्थ है या नहीं इन सब की परीक्षा करना 'पडिछा' परीक्षा है।[2]

मार्ग के ज्ञाता आचार्य क्षपक के रत्नत्रय की आराधना करने में उत्साह की परीक्षा करते हैं कि उसके आराधना करने का उत्साह है या नहीं तथा दूध-भात आदि द्रव्यों को ग्रहण करने में इसकी लोलुपता है या ग्लानि है (या समता है) ऐसी परीक्षा करते हैं। यहाँ दूध-भात मनोज्ञ का उपलक्षण है (इसलिए अन्य भी खाद्य/पेय पदार्थों की यहाँ परीक्षा करते हैं। यह परीक्षा समाधि के निमित्त की जाती है।[3] क्षपक की आराधना के समय क्षेम सुखशांति होगी या नहीं इसकी

(1) म. क. 520-522, 526 (2) भ. आ. 505-508 (3) भ. आ. वि. 67
(4) भ. आ. उत्थानिका 511 (5) भ. आ. 510-513

निर्यापकाचार्य निष्प्रमादी होकर दिव्य निमित्तज्ञान से परीक्षा करते हैं अर्थात् भविष्य की परीक्षा करते हैं।[4]

20. निरूपणा (प्रतिलेखना) अधिकार

निरूपणा–आराधना की सिद्धि बिना बाधा के होगी या नहीं तथा राज्य, देश, ग्राम, नगर आदि वहाँ के प्रधान ये सब आराधना के योग्य है या नहीं इस प्रकार के निरूपण को प्रतिलेखना कहते हैं।[1]

निर्यापकाचार्य स्वयं का वा क्षपक का भाव देखकर राज्य, राजा एवं देश में समाधि की अनुकूलता है या नहीं इस बात को देखकर ही क्षपक को समाधि हेतु स्वीकार करते हैं।[2] आराधना के निमित्त से अपने पास आये क्षपक की आराधना निर्विघ्न होने के लिए आचार्य प्रमाद रहित होकर दिव्य निमित्त ज्ञान के द्वारा परीक्षा करते हैं कि इसकी आराधना निर्विघ्न होगी या नहीं। सम्यक्त्व आदि गुणों का साधक वह आचार्य राज्य, क्षेत्र, अधिपति, गण और अपनी शरीर की परीक्षा करके क्षपक को ग्रहण करता है। अन्यत्र ''गुणसाधणं'' पाठ मिलता है उसके अनुसार आचार्य गुणों की साधना के लिए उद्यत साधु को ग्रहण करता है।[3]

21. अपृच्छा (पृच्छा) अधिकार

अपृच्छा (पृच्छा)–जब कोई आराधक समाधिमरण के लिये आये तो आचार्य का, संघ से पूछना कि हम इसे स्वीकार करें या, नहीं अपृच्छा है।[4]

आचार्य परिचर्या करनेवाले यतियों से पूछते हैं–यह क्षपक रत्नत्रय की साधना में हमारी सहायता चाहता है। साधु समाधि और वैय्यावृत्य करना तीर्थंकर नामकर्म के बंध का कारण है यह आप जानते ही हैं। अतःकहिये, हम लोग इस पर अनुग्रह करें या न करें? प्रायः लौकिकजन भी परोपकार के लिए सदा तत्पर रहने वाले होते हैं। तब यतिजनों का तो कहना ही क्या है? वे तो समस्त निकट भव्य जीवों को गहरे संसार पंक से निकालने में तत्पर रहते ही है। आगम में भी कहा है-आत्मा का हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए। अतः क्या इसके कल्याण का उद्योग करना चाहिए? या नहीं, इस प्रकार आचार्य के पूछने पर

---

(1) भ. आ. 514-516 (2) भ. आ. वि. 67 (3) भ. आ. 517 (4) म. क. 538

यदि स्वीकार वे करते हैं तो आचार्य क्षपक को स्वीकार करते हैं। परिचारक यतियों से न पूछने पर आचार्य, क्षपक और संघ तीनों को ही संक्लेश होता है। हमलोगों ने इस क्षपक को स्वीकार नहीं किया ऐसा मानकर यतिगण यदि उसकी विनय या वैय्यावृत्य न करें तो क्षपक को संक्लेश होता है कि ये मेरा कुछ भी नहीं करते। गुरु को भी संक्लेश होता है कि मैंने इसका उपकार करना प्रारंभ किया किन्तु वे इसमें सहायता नहीं करते। परिचारक यतियों को भी संक्लेश होता है कि यह कार्य बहुत जनों के करने का है किन्तु हमारे गुरु यह नहीं मानते और न हमारे बलाबल की परीक्षा करते हैं।[1]

22. एक संग्रह अधिकार

एक संग्रह—आराधक की सेवा करने वाले मुनियों की स्वीकृति मिलने पर एक आराधक को (क्षपक को) ग्रहण करना एक का प्रतिग्रहण है।[2]

एक मुनि तो संस्तर पर चढ़कर जिनेन्द्र के उपदेश से शरीर को आराधना में लगाता है। एक मुनि उग्र तप करके शरीर को कृश करता है। तीर्थंकर ने एक निर्यापक आचार्य के द्वारा (अनुग्राह्य) तीसरे यति की अनुज्ञा नहीं दी है अर्थात् एक आचार्य की देख-रेख में एक साथ एक, दो ही मुनि सल्लेखना कर सकता है क्योंकि तपरूपी अग्नि में अपने शरीर की आहुति देने वाली मुनि की समाधि में विघ्न आता है। इसका कारण यह है कि यदि दो या तीन क्षपक संस्तर पर आरुढ़ हो जायें तो चित्त को समाधान देने वाली विनय वैय्यावृत्य आदि में कमी आती है। अत: आचार्य एक ही क्षपक को स्वीकार करते हैं जो परिचर्या करने वाले यतियों को इष्ट होता है तथा आचार्य गण के मध्य में क्षपक को शिक्षा देते हैं जिससे गण भी समाधि को जान जाये।[3]

23. आलोचना अधिकार

आलोचना—गुरु के सामने अपने अपराध का निवेदन करना आलोचना है।[4] अपने द्वारा किये गये अपराधों को दबाने का प्रयत्न न करके अर्थात् छिपाने का प्रयत्न न करके उसका त्याग करना निश्चय आलोचना है तथा चारित्र का आचरण करते समय जो अतिचार होते हैं उसकी पश्चाताप पूर्वक निन्दा करना आलोचना हैं।[5]

---

(1) भ. आ. वि. 67 (2) म. क. 539 (3) भ. आ. 518-519 (4) भ. आ. वि. 68

सर्व संघ के मध्य में शुद्ध आलोचना को (विधिपूर्वक) कराने हेतु निर्यापक क्षपक को इस प्रकार हितकारी वचन कहता है। हे क्षपक! सुख स्वभाव को त्याग कर परीषह सहन करो क्योंकि सुख स्वभावी मुनि आहार वसति आदि को शुद्ध नहीं करता। हे क्षपक! पंचेन्द्रियजयी बनो, कषायजयी बनो।[6]

हे क्षपक! रागद्वेष इन्द्रिय और संज्ञा से रहित होकर तथा ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारव को छोड़कर विशुद्धि युक्त तुम, शुद्ध आलोचना को करो। जो क्षपक व्यवहार चतुर है छत्तीस गुण समन्वित है उसको भी गुरु की साक्षी पूर्वक महाशुद्धि कारक यह आलोचना अवश्य करनी चाहिए। जैसे अत्यन्त निपुण भी वैद्य रोगी होने पर अपना रोग दूसरे वैद्य से कहता है और उस वैद्य की चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उस दूसरे वैद्य से कहता है और उस वैद्य की चिकित्सा सुनकर वह रोगी वैद्य उस दूसरे वैद्य के द्वारा कथित इलाज को करता उसी प्रकार क्षपक को निर्यापकाचार्य की साक्षी में आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि पर की साक्षीपूर्वक की गई शुद्धि ही प्रधान है, अत: दीक्षा से लेकर अब तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जो मन वचन काय के दुष्प्रयोग से अतिचार लगे हैं वे सब निरवशेष होकर अर्थात् प्रत्येक व्रतों की अलग-अलग पूर्णत:आलोचना करो।[1]

आलोचना के भेद एवं स्वामी–''आलोचना के मुख्य दो भेद हैं- ओघ और पद विभाग।

(1) ओघ (सामान्य) आलोचना–मूल स्थान को प्राप्त हुये यति को ओघ आलोचना करना चाहिए अर्थात् मेरे व्रत नष्ट हो चुके हैं मैं पुनर्दीक्षा के योग्य हूँ इत्यादि। जो अपरिमित अपराधी है जिसने बहुत अपराध किये हैं या जिसने सम्यक्त्व, व्रत आदि का घात किया है वह सामान्य आलोचना करता है।

(2) पद विभाग (विशेष) आलोचना–मूल को छोड़कर शेष दोषों के होने पर पद विभाग आलोचना करना चाहिए अर्थात् ऐसा कोई दोष हुआ है कि जिसका प्रायश्चित्त मूल नहीं किन्तु इसके अलावा अन्य है। दीक्षा से लेकर सब काल में, सब क्षेत्र में, क्योंकि जिस भाव से और जिस क्रम से जो दोष किया हो उसका उसी प्रकार से आलोचना करना पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना है। ये दोनों प्रकार को आलोचना शल्य रहित होकर करना चाहिये।[2] क्योंकि जैसे कण्टक से विधा हुआ सर्व शरीर पीड़ा से पीड़ित होता है और उस कण्टक के निकल जाने पर वह दुःखी मनुष्य शल्य ये रहित हो सुखी होता है। उसी प्रकार जो काँटे की

(1) भ. आ. वि. 520 (2) भ. आ. वि. 67 (3) भ. आ. वि. 521-523 (4) भ. आ. वि. 68
(5) भ. आ. वि. 6, 10 (6) म. क. 544-545 546

तरह दोष को नहीं निकालता वह मायावी अपने अपराध को न कहने रूप दोष से दुःखी रहता है और वही दोष को प्रकट करने पर विशुद्ध होकर सुखी होता है।[3]

शल्य–जो प्रति समय काँटें की तरह चुभने वाली शल्य होती है उसे शल्य कहते हैं।

शल्य के भेद–(1) माया (2) मिथ्यात्व तथा (3) निदान के भेद से तीन प्रकार की हैं तथा भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार की हैं।[1]

द्रव्य एवं भाव शल्य–मिथ्यादर्शन, माया, निदान ऐसे तीन शल्यों की जिनसे उत्पत्ति होती हैं ऐसे कारण भूत कर्म को द्रव्य शल्य कहते हैं तथा इनके उदय से जीव के माया, मिथ्या व निदान रूप जो परिणाम होते हैं वह परिणाम भाव शल्य हैं।[2]

भाव शल्य के तीन भेद–दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य, चारित्रयोग शल्य। शंका आदि दर्शन शल्य है। अकाल में पढ़ना, विनय न करना आदि ज्ञान शल्य हैं। समिति और गुप्ति में अनादर चारित्र के शल्य हैं। अनशन आदि के अतिचार अथवा असंयम रूप परिणाम तप शल्य है। तप का अन्तर्भाव चारित्र में होता है इस विवक्षा से यहाँ भाव के तीन भेद कहे गये हैं।

द्रव्य शल्य के भी तीन भेद हैं–सचित्त, अचित्त और मिश्र। दास आदि सचित्त द्रव्य शल्य हैं। सुवर्ण आदि अचित्त द्रव्य शल्य हैं। गाँव आदि मिश्र द्रव्य शल्य हैं। इन तीनों को द्रव्य शल्य कहते हैं क्योंकि ये चारित्राचार के शल्य के कारण हैं।[3]

शल्य सहित मरण से दोष–राग और द्वेष से पीड़ित जो मूढ़ मुनि शल्य सहित मरते हैं वे दुःख रूपी शल्यों से भरे संसार रूपी वन में भटकते हैं। शल्य की तरह दुर्द्धर होने से दुःखों को शल्य कहा है। यदि भय, प्रमाद और लज्जा वश भाव शल्य को न निकाला जाये तो वे चारों आराधनाओं में से एक भी आराधना को प्राप्त नहीं हो पाते हैं।[4]

निःशल्य मरण के गुण–जो दीक्षा लेने के दिन से लेकर तीन प्रकार के सब भावशल्य को निकालकर मरण करते हैं वे मरते समय सम्यग्दर्शन आदि के आराधक होते हैं। जो तीन प्रकार के गारव और तीन प्रकार के शल्यों से रहित हो, ममत्वभाव को त्याग दर्शन, ज्ञान और चारित्र में विहार करते हैं वे सब दुःखों का क्षय करते हैं।[5]

अतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र संबंधी अपने अपराधों को कहकर, माया शल्य से रहित होकर, गुरु के द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करके क्रम से सल्लेखना करो।

---

(1) भ. आ. 526-527, 530-533 (2) भ. आ. 535-537 (3) भ. आ. 538-539

इस प्रकार गुरु के द्वारा शिक्षित किया गया वह क्षपक समाधिमरण करने का निश्चय करता है। उसके सब अंगों में हर्ष की लहर दौड़ती है और प्रीति से शरीर रोमांचित हो जाता है।[6]

आलोचना तत्काल करने का उपदेश—कल या परसों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि करूँगा। ऐसा संकल्प करनेवाले बीतते हुए आयु काल को नहीं जानते। इसी से उनका मरण शल्य सहित होता है। इसी से कहा है- ''जैसे ही माया शल्य उत्पन्न होती हो, उत्पन्न होते ही उसे आनुपूर्वी क्रम से नष्ट कर देना चाहिये।'' व्याधि, शत्रु और कर्म की यदि उपेक्षा की जाये तो उनकी जड़ जम जाती है। फिर सुखपूर्वक उनका विनाश नहीं होता अथवा अपराधी की उपेक्षा करने वाले साधु दोष लगने के काल को बहुत दिन बीत जाने पर भूल जाते हैं। जो अतिचार प्रतिदिन होते हैं उनका काल, सन्ध्या में अतिचार लगा था या रात में या दिन में इत्यादि भूल जाते हैं। पीछे आलोचना करते समय गुरु के पूछने पर नहीं कह पाते क्योंकि बहुत काल बीतने से भूल जाते हैं। अथवा बीते अतिचार के काल को और अतिचार के हेतु, क्षेत्र और भाव को नहीं जानते, उन्हें उनका स्मरण नहीं होता।[1]

आलोचना विधि—गुरु उपदेश से प्रसन्नचित हो शुद्ध आलोचना को मैं करता हूँ इस प्रकार गुरु की स्वीकृति लेकर जिन प्रतिमा के सम्मुख या पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख करके खड़ा होवें, निस्पृह और धीरता से कायोत्सर्ग करें तथा एकत्व भाव मय होता हुए मैं अतिचार रहित, केवल ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाला हूँ मुझसे रागद्वेष शल्य आदि दोष भिन्न हैं मानापमान से मेरा कोई नाता नहीं है मैं छल को छोड़कर सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करूँगा इत्यादि मैं आचार्य के चरणों में शल्य को उखाड़ फेकूँगा इस प्रकार विचार कर अंजुलि जोड़कर सम्पूर्ण दोषों का स्मरण कर गुरु के पास आता है क्योंकि शुद्ध मन वाले ही आलोचना के योग्य हैं। कृतिकर्म करने के पूर्व आलोचना का स्थान नेत्र एवं पिच्छी से शोधन कर आलोचना करें।[2]

आलोचना योग्य काल या भाव—आलोचना शुद्ध मन से पूर्वाह्न या अपराह्न के समय में शुभ दिन, शुभ तिथि और शुभ लग्न में करना चाहिए।[3]

आलोचना के अयोग्य स्थान—जहाँ पत्तों वाले वृक्ष न हों, सूखा वृक्ष, काँटेदार वृक्ष, कड़ुआ निंवादि वृक्ष, छाया रहित या गिरा हुआ जीर्ण, अग्नि या बिजली से जला हुआ वृक्ष हो, क्षुद्र अल्प शक्ति वाले देवों का स्थान, घास, पत्थर, काष्ठ, हड्डी, पत्ते, मिट्टी-धूली के ढ़ेर हो,

---

(1) भ. आ. 540 (2) भ. अ. वि. 25 पृ. 56 (3) भ. आ. वि. 541 (4) भ. आ. 544, 54
(5) भ. आ. 545, 546 (6) भ. अ. 550-551

राख मल आदि से भरा हो, भूसा का घर या स्थान, रूद्र कुदेव का देवालय हो ये स्थान आलोचना के योग्य नहीं हैं।[4]

आलोचना योग्य स्थान–(1) जिन मंदिर, (2) सुंदर तोरणों से युक्त सुंदर नागेन्द्र मंदिर, (3) कमल युक्त सरोवर, (4) ऊँचें वृक्षों से मंडित वन, (5)नम्र सज्जनों के द्वारा भूषित मंदिर, (6) उद्यान, (7) नदी का किनारा, (8) छायादार वृक्ष, (9) पवित्र पत्र पुष्पों वाले वृक्ष, (10) रसीले फलों वाले वृक्ष तथा इन स्थानों के समान अन्य कोई प्रशस्त स्थान हो उस स्थान में भी जाकर निर्यापकाचार्य क्षपक की संक्लेश रहित शुद्ध आलोचना को सुनते हैं।

आलोचना की दिशा–जिन प्रतिमा के सम्मुख, पूर्व में निर्यापक को और क्षपक को उत्तर दिशा में मुख करना चाहिए अथवा उत्तर में निर्यापकाचार्य को और पूर्व में क्षपक को मुख करना चाहिए तथा अकेला आचार्य और अकेला क्षपक हो इस प्रकार एकाकी आलोचना सुनना चाहिए।[1]

24. गुणदोष अधिकार

आलोचना के गुण और दोष, गुणदोष हैं।[2]

आलोचना के दोष–आलोचना दश दोषों से रहित करना चाहिए।

(1) **आकंपित**–उपकरणादि देकर गुरु को अनुकूल बनाकर आलोचना करना या गुरु के मन में दया उत्पन्न कर आलोचना करना आकंपित दोष है।

(2) **अनुमानित**–अपनी परिस्थिति बतलाकर यदि कम प्रायश्चित्त दें तो मैं सम्पूर्ण आलोचना करूँगा इत्यादि कह कर या विचार कर आलोचना करना अनुमानित दोष है।

(3) **यद्दृष्ट**–जो अपराध किसी ने देखे हैं उन्हें तो प्रकट करना किन्तु शेष के लिये मायाचार से ढाँक लेना यद्दृष्ट दोष है।

(4) **बादर**–जो स्थूल दोषों को कहता है किन्तु सूक्ष्म दोषों की आलोचना नहीं करता यह बादर दोष है।

(5) **सूक्ष्म**–जो सूक्ष्म दोषों को तो कहता है, किन्तु बड़ें दोषों को छिपाता है यह सूक्ष्म

---

(1) भ. आ. वि. 543 (2) म. क. 575-578 (3) म. क. 579 (4) म. क. 580-582

दोष है।

(6) शब्दाकुलित (बहुजन)–सामूहिक आलोचनाओं के कोलाहल में अपने दोषों को कहना ताकि कोई उसे सुन न पाये। यह शब्दाकुलित दोष है।

(7) बहुजन–आचार्य द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य इस तरह सशंकित मन से अन्य आचार्यों से पूछना। यह बहुजन दोष है।

(8) प्रच्छन्न–किसी से ऐसे-ऐसे अपराध लगें तो उसका क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए। ऐसा पूछकर गुप्त रूप से प्रायश्चित्त ले लेना। यह प्रच्छन्न दोष है।

(9) अव्यक्त–आगम एवं चारित्र वालों (अनभिज्ञों) से आलोचना करना अर्थात् आगमबाल (प्रायश्चित्त ग्रंथ जिन्होंने नहीं समझा है) तथा चारित्राबाल (जो मंद या मिथ्याचरण युक्त) से आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

(10)तत्सेवी–समान अपराधी से आलोचना करना।[1]

आलोचना की विधि–सदोष आलोचना से शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्य के पादमूल में उपस्थित क्षपक दसों दोषों को तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जा को त्यागकर सम्यक् प्रकार से शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करता है। हाथ का नचाना, भौं मटकाना, शरीर को मोड़ना, गृहस्थ की तरह बोलना, गूँगे की तरह संकेत करना और घर्घर स्वर को त्यागकर, दोनों हाथों की अंजुली बनाकर, सिर नवाकर गुरु के सामने उनकी बायीं ओर एक हाथ दूर गवासन से बैठकर, न अति जल्दी में और न अति रुक-रुक कर स्पष्ट आलोचना करता है।[2]

इस प्रकार विशेष आलोचना अथवा सामान्य आलोचना के द्वारा माया शल्य को दूर करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकक्चारित्र और तप इन सब गुणों की शुद्धि का इच्छुक क्षपक गुरु के द्वारा कहे प्रायश्चित्त को रोष, दीनता और अश्रद्धा को त्यागकर स्वीकार करता है। 'कृतपाप' अर्थात् अशुभकर्म का संचय करनेवाला भी मनुष्य। अथवा पाप अर्थात् अशुभकर्म के कारणभूत असंयम आदि को यहाँ पाप शब्द कहा है। तब यह अर्थ होता है–असंयम आदि करने वाले मनुष्य गुरु के समीप आलोचना और निंदा करके शीघ्र ही हल्का हो जाता है जैसे बोझ को उतारने पर बोझा ढ़ोने वाला हल्का हो जाता है। जो मूढ़ मुनि बहुत अच्छे बहुश्रुत विद्वान होकर

(1) म. क. 584-588 (2) भ. आ. वि. 68

भी क्षमा आदि धर्म में संयम में, व्रतों में, ज्ञान, दर्शन और तपगुणों में भाव शुद्धि नहीं रखते वे दु:खों से पीड़ित होते हैं। अत: उक्त सभी दोषों का त्याग कर ही आलोचना करना चाहिए।[3]

आलोचना के अनंतर गुरु के कर्तव्य–''आलोचना सुनकर गुरु भिक्षु से तीन बार उपाय से पूछते हैं–तुम्हारा अपराध क्या है? मैं भूल गया या मैंने सुना नहीं। इत्यादि 'वचन' कहने के ढंग से और आचरण से जानते हैं कि यह सरल हृदय है तो जिस प्रकार किया पाप शुद्ध हो उस प्रकार प्रायश्चित्त देना चाहिए। जो सरल हृदय नहीं होता उसके भावशुद्धि नहीं होती। इसलिए व्यवहार कुशल आचार्य उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। भावशुद्धि के बिना पाप दूर नहीं होता। इसलिए उसके रत्नत्रय निरंतिचार नहीं होते।

वैद्य रोगी से तीन बार पूछता है–तुमने क्या खाया था? क्या पिया था? रोग की क्या दशा है? शरीर में लगे घाव की भी तीन बार परीक्षा की जाती हैं कि घाव भरा या नहीं? चोरी होने पर तीन बार पूछा जाता है कि क्या-क्या चोरी में गया है? कैसे चोरी हुई है? मालाकार से भी तीन बार पूछा जाता है कि तेरी माला का क्या मूल्य है? राजा ने जिस कार्य करने की आज्ञा दी है, वह तीन बार पूछता है कि क्या इस प्रकार करूँ? इसी प्रकार आलोचना की परीक्षा भी तीन बार की जाती है। अपना अपराध पुन: कहो? ये सरल और वक्र आलोचना के संबंध में पाँच दृष्टांत हैं। यदि तीनों बार भी एक रूप से ही कहता है तो सरल आलोचना है। यदि अन्य-अन्य रूप से कहता है तो वक्र आलोचना है, ऐसा समझना चाहिए।''[1] अर्थात् प्रतिसेवना सम्बन्धी सब अतिचारों को क्रमानुसार यदि कहता है तो आगम के अनुसार व्यवहार करने वाले आचार्य उसकी शुद्धि करते है अन्यथा नहीं।[2]

प्रतिसेवना–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से प्रतिसेवना के चार भेद हैं। द्रव्यप्रतिसेवना के तीन प्रकार हैं, क्योंकि सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से द्रव्य के तीन प्रकार हैं, चित्त ज्ञान को कहते हैं। कहा जाता है कि जगत (तत्त्व) चित्त मात्र है अर्थात् ज्ञानमात्र है। ज्ञान आत्मा से कथंचित् अभिन्न होता है अथवा आत्मा में रहता है, इसलिए उसे चित्त शब्द से कहते हैं। जो चित्त आत्मा के साथ रहता है वह सचित्त है अर्थात् जीव के शरीर रूप से स्थित पुद्‌गल द्रव्य सचित्त है और जिस पुद्‌गल में चित्त अर्थात् आत्मा नहीं है वह अचित्त है। सचित्त और अचित्त पुद्‌गलों का समूह मिश्र है। जीव के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जिनमें जीव वर्तमान है उन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को सचित्त कहते हैं। जीव के द्वारा त्यागे हुये

---

(1) आ. भ. वि. 564 (2) भ. आ. 608-609 (3) भ. आ. 614-616

शरीर को अचित्त कहते हैं। इन सचित्त-अचित्त को लेकर क्षेत्र प्रतिसेवना, काल प्रतिसेवना और भाव प्रतिसेवना लगा लेना चाहिए। इन प्रतिसेवना के निमित्त से हुए सब सूक्ष्म और स्थूल दोषों को यथाक्रम यदि नहीं कहता तो आगम के अनुसार व्यवहार करनेवाले आचार्य उसकी शुद्धि नहीं करते। आगम में कहा है-जो पुरुष सरल भाव से अपने दोष कहते हैं, वे प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्धि करने योग्य हैं और जिनके विषय में शंका हो वे प्रायश्चित्त देने योग्य नहीं है। अतः सब अतिचारों को कहने वाले के ही सरलता होती है। उसी का प्रायश्चित्त देना चाहिए।[1]

आचार्य के अभाव में निर्यापक कौन–पूर्वोक्त गुण वाले आचार्य के तथा उपाध्याय के संघ में न होने पर सावधान पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला प्रवर्तक अथवा स्थविर अथवा बालाचार्य निर्यापक होता है। जो अल्प शास्त्रज्ञ होते हुए भी सर्व संघ की मर्यादा चर्या को जानता है, उसे प्रवर्तक कहते हैं। जिसे दीक्षा लिए बहुत काल बीत गया है तथा जो मार्ग को जानता है। उसे स्थविर कहते हैं।[2]

क्षपक गुरु सान्निध्य में ही समाधि करें–वह क्षपक सामाचारी करके विधिपूर्वक प्रायश्चित्त द्वारा अपने दोषों की विशुद्धि करता है और अच्छी तरह से आत्मा को विशुद्ध करके स्वीकृत चारित्र एवं गुणों की इच्छा करता हुआ गुरु के पास में साधना करता है। समस्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिचारों से शुद्ध होकर, गुरु के उपदेश से समस्त गुणों के समूह को धारण करके क्षपक को समाधि मरण में लगना चाहिए।[3]

अतिचार–किसी करने योग्य कार्य के न करने पर और त्याग करने योग्य पदार्थ के त्याग न करने पर जो पाप होता है उसे अतिचार कहते हैं।

आलोचना के योग्य संक्षिप्त अतिचार

सम्यग्दर्शन के अतिचार–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा (मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा) और अन्यदृष्टि संस्तव।

ज्ञान के अतिचार–असमय में स्वाध्याय, श्रुत अथवा श्रुत के धारी की विनय न करना, अनुयोग आदि को ग्रहण करने में उसके योग्य अवग्रह न करना, गुरु का नाम छिपाना, व्यंजन शब्द छोड़ते जाना या अधिक जो उसमें नहीं है, उसे बोलना और अर्थ का अन्यथा कथन करना।

(1) भ. आ. 617-618 (2) भ. आ. 620

चारित्र के अतिचार–समिति आदि के पालन में शिथिलता। चारित्र का कुछ फल नहीं है इत्यादि भाव चारित्र के अतिचार हैं।[4]

अहिंसा महाव्रत के अतिचार–पृथ्वीकायिक में–जमीन कटने आदि के द्वारा
जलकायिक में–ओस, बर्फ, वर्षा आदि के द्वारा।
अग्निकायिक में–अग्नि से सेंकना आदि द्वारा।
वायुकायिक में–वस्त्रादि से हवा करना।
वनस्पतिकायिक में–तृणादि पर चलना आदि।
द्वीन्द्रियादि जीवों की विराधना करना आदि।

सत्य महाव्रत–कठोर वचन, असभ्य वचन आदि बोलने से।

अचौर्य महाव्रत–किसी की गिरी हुई, पड़ी हुई वस्तु उठाने को अन्य लोगों से कहना आदि।

ब्रह्मचर्य महाव्रत–सुंदर स्त्री का अवलोकन, उसके साथ राग भाव से संभाषण आदि द्वारा।

अपरिग्रह महाव्रत–गृहस्थोचित्र वस्तु का ग्रहण, उसका शोधन आदि द्वारा।

ईर्या समिति के अतिचार–मंद प्रकाश में चलना, पैर रखने के स्थान को अच्छी तरह नहीं देखना, गमन करते समय चित्त का उपयोग अन्यत्र होना, ये ईर्यासमिति के अतिचार हैं।

भाषा समिति के अतिचार–यह वचन मुझे कहना युक्त है अथवा नहीं, ऐसा विचार किये बिना बोलना अतिचार है। इसलिए कहा है- बोलने वाले के बीच में बिना समझे नहीं बोलना चाहिये ऐसे मुनि को जिसने शास्त्र की बात को (स्पष्ट) पुष्ट रूप से नहीं सुना है उसे अपुष्ट कहा है। अपुष्ट मुनि को बीच में नहीं बोलना चाहिये। भाषा समिति के क्रम से जो अनजान है, उसे मौन ले लेना चाहिये।

एषणा समिति के अतिचार–दुर्भिक्ष के कारण, अयोग्य आहार करना, रोग होने पर औषधि की याचना करना, उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचन से उसकी अनुमति देना, काय से उसकी प्रशंसा करना ऐसे मुनियों के साथ रहना, या क्रियाओं में उनके साथ प्रवृत्ति करना एषणा समिति के अतिचार हैं।

आदाननिक्षेपण समिति के अतिचार–जो वस्तु ग्रहण करने योग्य या रखने योग्य है, उसे

---

(1) भ. आ. वि. 619 (2) भ. आ. 628 (3) भ. आ. 629, 631 (4) भ. आ. वि. 489

ग्रहण करते या स्थापित करते समय 'यहाँ जन्तु है या नहीं' ऐसा नहीं देखना या पिच्छिका से सावधानपूर्वक प्रमार्जन न करना आदान निक्षेपण समिति के अतिचार है।

प्रतिष्ठापन समिति के अतिचार–शरीर और भूमि का शोधन न करना, मलत्याग करने के स्थान को न देखना आदि प्रतिष्ठापन समिति के अतिचार हैं।

काय गुप्ति के अतिचार–चित्त के असावधान रहते हुए शारीरिक क्रिया का रोकना कायगुप्ति का अतिचार हैं। जहाँ मनुष्य आते-जाते हैं। वहाँ एक पैर आदि से खड़े होना, अशुभ ध्यान में लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओं की मूर्ति के सम्मुख ऐसे खड़े होना मानो उनकी आराधना में लगे हैं, सचित्त भूमि में जहाँ चारों ओर हरित वनस्पति फैली है, क्रोध या घमण्ड से मौनपूर्वक निश्चल खड़े होना कायगुप्ति के अतिचार हैं। जो कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानते हैं उनके पक्ष में शरीर से ममत्व को न छोड़ना अथवा जो कायोत्सर्ग के दोष कहे हैं वे कायगुप्ति के अतिचार हैं।

मनोगुप्ति के अतिचार–स्वाध्याय में रागादि सहित प्रवृत्ति मनोगुप्ति का अतिचार है।[1]

तप के अतिचार–अनशनादि तप करते समय असंयम रूप प्रवृत्ति, तप के अतिचार हैं।

अनशन तप के अतिचार–स्वयं भोजन न करते हुए भी दूसरों को भोजन कराना, मन-वचन-काय से दूसरे को भोजन की अनुमति देना, स्वयं भूख से पीड़ित होने पर मन से आहार की अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन करायेगा, अथवा कहाँ पारणा होगी, इत्यादि चिंता अनशन तप के अतिचार हैं अथवा रसीले आहार के बिना मेरी थकान दूर नहीं होती, प्रचुरनिद्रा में पड़कर छहकाय के जीवों की बाधा में मन, वचन या काय से प्रवृत्ति होना। मैंने यह संक्लेशकारी उपवास व्यर्थ ही किया, यह संतापकारी है इसे नहीं करूँगा, इस प्रकार का संकल्प भी अनशन का अतिचार है।

अवमौदर्य तप के अतिचार–बहुत भोजन में आदर, दूसरों को बहुत भोजन कराने की चिंता, जब तक आपकी तृप्ति हो तब तक भोजन करो ऐसा कहना, मैंने बहुत भोजन किया 'ऐसा कहने पर' आपने अच्छा किया ऐसा कहना, हाथ के संकेत से कंठ देश को स्पर्श करके बतलाना कि मैंने आकण्ठ भोजन किया इत्यादि अवमौदर्य व्रत के अतिचार हैं।

वृत्ति परिसंख्यान तप के अतिचार–सात घर में ही प्रवेश करूँगा, या एक ही मुहल्ले में जाऊँगा व दरिद्र के घर ही जाऊँगा, इस प्रकार का दाता पुरुष या दात्री स्त्री के द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। ऐसा संकल्प करके दूसरों को भोजन कराना है, इस भाव से सात

घर से अधिक घरों में प्रवेश करना और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाना, इत्यादि वृत्तिपरिसंख्यान व्रत के अतिचार है।

रस परित्याग के अतिचार–रसों में अति आसक्ति, दूसरे को रस युक्त आहार का भोजन कराना अथवा रसयुक्त आहार के भोजन की अनुमति देना, ये रस परित्याग के अतिचार हैं।

कायक्लेश तप के अतिचार–गर्मी से पीड़ित होने पर शीतल द्रव्य की प्राप्ति की इच्छा होना, मेरा संताप कैसे दूर हो यह चिंता होना, पूर्व में भोगे हुए शीतल द्रव्यों और शीतल प्रदेशों को याद करना, कठोर धूप से द्वेष करना, शीतल प्रदेश से अपने शरीर को शोधे बिना धूप में या गर्म स्थान में प्रवेश करना अथवा धूप से संतप्त पीछी से शोधे बिना छाया में प्रवेश करना आदि। वृक्ष के मूल में जाकर हाथ, पैर अथवा शरीर से जल कायिक जीवों को पीड़ा देना, शरीर में लगे जल के कणों को हाथ वगैरह से पोंछना, हाथ या पैर से शिलातल आदि पर पड़े जल को दूर करना, कोमल गीली भूमि पर सोना, जल के बहने के निचले प्रदेश में ठहरना, निश्चित स्थान पर रहते हुये 'कब वर्षा होगी' ऐसी चिंता करना अथवा वर्षा होने पर 'कब रुकेगी' ऐसी चिंता करना, वर्षा से बचने के लिए छाता आदि धारण करना इत्यादि कायक्लेश तप के अतिचार हैं।

अभ्रावकाश के अतिचार–सचित्त भूमि पर जिसमें त्रसरहित हरित काय हो तथा छिद्र वाली भूमि पर सोना, भूमि और शरीर को पीछी से शुद्ध किये बिना सोते हुए हाथ पैर संकोचना, फैलाना, करवट लेना अथवा शरीर खुजाना। बर्फ और वायु से पीड़ित होने पर 'कब ये बंद होंगे' ऐसी चिंता करना, बाँस के पत्ते वगैरह से शरीर पर गिरे बर्फ को हटाना अथवा बर्फ से घट्टन करना, इस प्रदेश में अधिक वायु चलती है, ऐसा संक्लेश करना अथवा शीत दूर करने के साधन आग, ओढ़ने के वस्त्र आदि का स्मरण करना, इत्यादि अभ्रावकाश (शीत) योग के अतिचार हैं।

प्रायश्चित्त के अतिचार–आलोचना प्रायश्चित्त के अतिचार पूर्व कथित आकंपित आदि अतिचारों (दोषों) में मन से ग्लानि न होना अतिचार है। अज्ञान से, प्रमाद से, कर्मों की गुरुता से और आलस्य से मैंने यह अशुभकर्म के बंध में निमित्त कार्य किया, यह बुरा किया, यह जुगुप्सा है। उसका न होना प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का अतिचार हैं। उक्त आलोचना और प्रतिक्रमण के अतिचार तदुभय प्रायश्चित्त के अतिचार हैं। भावपूर्वक विवेक का न होना विवेक प्रायश्चित्त का अतिचार है। शरीर से ममत्व न हटाना और अशुभ ध्यान रूप परिणति तथा कायोत्सर्ग के

---

(1) भ. आ. वि. 16

दोष व्युतसर्ग प्रायश्चित्त के अतिचार हैं। तप के अतिचार पहले कहे हैं। मेरी दीक्षा छेदने से मैं छोटा हो गया, यह संक्लेश छेद प्रायश्चित्त का अतिचार है। भावपूर्वक रत्नत्रय को ग्रहण न करना मूल नामक प्रायश्चित्त का अतिचार है।''[1]

निर्दोष आलोचना करने पर आचार्य का कर्तव्य–क्षपक के द्वारा आलोचना करने पर छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्र का ज्ञाता आचार्य सूत्र और उसके अर्थ को लेकर आगम का विचार करता है कि यह सूत्र है और इसका यह अर्थ है। इस प्रकार के अपराध का यह प्रायश्चित्त इस सूत्र में कहा है, ऐसा पहले विचार करता है। प्रतिसेवना अर्थात् असंयम आदि का सेवन करने से उत्पन्न हुये पापकर्म की पीछे हुए शुभ या अशुभ परिणामों से तीव्र हानि अथवा तीव्र वृद्धि, मंद हानि अथवा मंद वृद्धि होती है। अर्थात् असंयम सेवन करते समय जैसे तीव्र अशुभ परिणाम से तीव्र पाप बंध और मंद अशुभ परिणाम से मंद पापकर्म बंध हुआ था, वैसे ही आलोचना के पश्चात् तीव्र शुभ परिणाम होने से पाप की तीव्र हानि और मंद शुभ परिणाम होने से पाप की मंद हानि होती है इसका विचार भी आचार्य करते हैं।[1]

25. शय्या (वसतिका) अधिकार

शय्या (वसतिका)–आराधक के रहने का स्थान शय्या है, इसे वसति भी कहते हैं।[2]

क्षपक के अयोग्य वसति–गायक, वादक, नर्तक, चाक्रिक, शालिक (पशुशाला) मालाकार, कोलिक (कोली), वांशिक (बासुरी बजाने वाले या बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), काष्ठिक-बढ़ई, लुहार, लौहिक, मात्सिक (मछली मार), पात्रिक (बर्तन बेचने या बनाने वाला), चार्मिक (चमार), छिंपका (रंगरेज), चारण (भाट, वारण, घुड़सवार, मेंढ़े को पालने वाले), मद्यपायी, पंडे, सार्थिक, सेवक, ग्राविक (पत्थर का काम करने वाले), कोटपाल, कुम्हार, सुभट, वैश्या, जुआरी, बदमाश इत्यादि निकृष्ट कार्य करने वाले वसतिका के निकट रहते हों तो वे वसतिका क्षपक के योग्य नहीं है।[3]

क्षपक के योग्य वसतिका–जिसमें पंचेन्द्रियों का कभी प्रसार नहीं है जो मन, वचन, काय की रक्षा अर्थात् धर्म ध्यान की साधक है ऐसी वसतिका का होना चाहिए। जो उद्गमादि दोषों से रहित है, प्रकाश युक्त, लेपन, मार्जन आदि क्रिया से रहित होना चाहिए। मिथ्यादृष्टि के लिये अगम्य हो, गृहस्थों के वास से रहित हो, अंधकार रहित हो, ऐसी वसतिका प्रशंसनीय है ऐसी निर्दोष वसतिकायें दो, तीन होनी चाहिए मजबूत हो, द्वारों से युक्त हो, जिसमें आना जाना सरल हो, दृढ़ दीवारों से युक्त हो, बाल वृद्ध लोगों के योग्य होना चाहिए, वसतिका के लिये सुंदर

(1) भ. आ. वि. 489

उद्यान का मंदिर, गुफा, शून्य घर, धर्मशाला रूप होना चाहिए, धर्म श्रवण के लिये मण्डप, चटाई आदि से बनाना चाहिए जो श्रोताओं को आनन्द दायक एवं श्रेयस्कर हो।[4]

26. संस्तर अधिकार

संस्तर–संस्तर को संचार भी कहते हैं। समाधि के निमित्त संथरा पृथ्वीमय या शिलामय या फलकमय–(लकड़ी का पाटा) आदि अथवा तृणों (प्याल, चटाई आदि) का होता है। उसका सिर उत्तर की ओर अथवा पूरव की ओर होना चाहिए, क्योंकि लोक में मांगलिक कार्यो में पूरव दिशा अच्छी मानी जाती है, उसी में सूर्य का उदय होता है अथवा उत्तर दिशा में विदेह क्षेत्र में स्थित तीर्थकरों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के उद्देश्य से उत्तर दिशा भी शुभ मानी जाती है।[1]

इस प्रकार संस्तर योग्य हो, प्रमाणयुक्त हो–न वहुत छोटा हो और न बहुत बड़ा हो, दोनों समय अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त के समय प्रतिलेखना द्वारा शुद्ध किया गया हो और शास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार बनाया गया हो। ऐसे संस्तर पर अशुभ मन वचन काय का निरोध करके क्षपक को आरोहण करना चाहिए।[2]

शिला/पृथ्वी संस्तर–"जो भूमि कठोर हो, ऊँची–नीची न हो, सम हो, छिद्र रहित हो, चींटी आदि से रहित हो, जन्तुरहित हो, क्षपक के शरीर के बराबर प्रमाण वाली हो, गीली न हो, मजबूत और गुप्त हो, प्रकाशसहित हो वही भूमि संस्तर रूप होती है। कोमल भूमि शरीर हाथ पैर के दवाव से दव जाती है। ऊँची–नीची भूमि में क्षपक को कष्ट होता है, बिल होने से उनमें रहने वाले या उनसे निकलने वाले जीवों को पीड़ा होती है। गीली होने से जलकायिक जीवों को पीड़ा पहुँचती है।" प्रकाशरहित भूमि में कुछ दिखाई न देने से असंयम से बचाव नहीं होता।[3] शिला संस्तर आग से, कूटने अथवा घिसने से प्रासुक हुआ हो, टूटा–फूटा न हो, निश्चल हो, सब ओर से जीव रहित हो अर्थात् पत्थर में रहने वाले, खटमल आदि से रहित हो। समतल हो, ऊँचा–नीचा न हो, प्रकाशकयुक्त हो, ऐसा शिलामय संस्तर होता है।[4]

काष्ठ संस्तर–काष्ठ (फलक) संस्तर सब ओर से भूमि से लगा हो, विस्तीर्ण हो, हल्का हो, उठाने लाने ले जाने में सुकर (सुखकर) हो, अचल हो-शब्द न करता हो, एकरूप हो,

(1) भ. आ. 621-622 (2) भ. आ. वि. 68 (3) म. क. 659-661 (4) म. क. 662-667

जन्तुरहित हो, छिद्ररहित हो, टूटा-फूटा न हो, चिकना हो। ऐसा फलक संस्तर होता है।[5] काष्ठ का बनाया हुआ, हल्का हो, भूमि बराबर हो अथवा चार-पाँच अंगुल भूमि से ऊँचा होने पर क्षपक को गिरने की संभावना रहती है, खटखट शब्द से रहित हो, एक लकड़ी से रचित हो, छिद्र रहित एवं चिकना हो।[1]

तृणमय संस्तर–संधि रहित, निरुपद्रव (गांठ रहित), सर्म्मूछन जीवों से रहित, छेद रहित, कोमल, जिसका शोधन भली प्रकार से हो सके ऐसा तृण (घास) का संस्तर होना चाहिए।[2]

संस्तरारोहण के पूर्व मृत्युकाल जानना अत्यावश्यक है। अतः संस्तरारोहण नक्षत्र से मृत्युकाल निम्न विधि से जाननी चाहिए।

मृत्युकाल जानने की विधि–कांसे की थाली पर चंदन से बारह खाने बनावें। उसमें निम्नांकित मंत्राक्षर लिखें–**''ॐ नमो भगवते वासुपूज्याय''** अर्थात् प्रत्येक कोष्ठ में एक-एक अक्षर लिखें। इस मंत्र को मंदिर के गर्भालय में रखें। अर्थात् थाली को सीधी टिका देवें पश्चात् कार्तिक वदी 14 को उपवास करें एवं 108 लौंगों (लवंगों) से अपनी शक्ति अनुसार जाप करते हुए रात्रि जागरण करें, पश्चात् वहीं सो जाय। प्रातः पूजा करने के बाद थाली देखें।

फलादेश–सम्पूर्ण अक्षर होने पर उस वर्ष में सुकशल रहेगा, यदि कोई अक्षर मिट जाये तो उसका फलाफल देखें अर्थात् जो अक्षर न हो उसी महिना, दिन, नक्षत्र में मृत्यु होना जाने। जैसे–ॐ अक्षर लुप्त होने पर अगहन सुदी 4 बुधवार मूल नक्षत्र में मृत्यु होगी।

'न' के लुप्त होने से–पौष सुदी 5 रविवार, मघा नक्षत्र, महादाह ज्वर से मरण होगा।

'मो' के लुप्त होने से–माघ शुक्ल 15, रविवार, मघा नक्षत्र में शीत से मरण होगा।

'भ' के लुप्त होने से–फा. सुदी 9, शुक्रवार, मगशिर नक्षत्र, मध्याह्न में ज्वर से मरण होगा।

'ग' के लुप्त होने से–चैत्र सुदी 14, सोमवार, अश्विनी नक्षत्र, अतिसार रोग से प्रभात समय में मरण होगा।

'व' के लुप्त होने से–वैशाख सुदी 13, गुरुवार, चित्रा नक्षत्र में अकस्मात् मरण होगा।

'ते' के लुप्त होने से–ज्येष्ठ वदी 14, शनिवार, मृगशिरा नक्षत्र, लिंग में रोग होने से प्रथम प्रहर में मरण होगा।

---

(1) म. क. 668 (2) भ. आ. 644 (3) भ. आ. वि. 640 (4) भ. आ. 641 (6) भ. आ. गा. 642

'वा' के लुप्त होने से–आषाढ़ कृष्णा 14 तथा सुदी 8 बुधवार कृतिका नक्षत्र में अतिसार रोग से, मध्याह्न समय में मरण होगा।

'सु' के लुप्त होने से–श्रावण वदी 10, मंगलवार, ज्येष्ठा नक्षत्र, अथवा श्रावण सुदी 11 रात्रि में दाह ज्वर से मरण होगा।

'पू' के लुप्त होने से–भाद्रपद्र सुदी 11, रविवार, श्रवण नक्षत्र, सर्पविष से रात्रि समय में मरण होगा।

'ज्या' के लुप्त होने से–अश्विन वदी 8, रविवार, अश्लेषा नक्षत्र, अथवा आसोज सुदी 8 में ज्वर रोग से मरण होगा।

'य' के लुप्त होने से–कार्तिक सुदी 5, रविवार, पूर्वाषाढ़ा में अतिसार रोग से अथवा कार्तिक सुदी 15 को मरण होगा।

फलादेश (चार्ट)

लुप्त अक्षर	फल	पक्ष माह	तिथि	(दिन)	नक्षत्र वार	समय	मरण का कारण
ॐ	अगहन	शुक्ल	4	बुधवार	मूल		मरण
न	पौष	शुक्ल	5	रविवार	मघा		महादाह ज्वर
मो	माघ	शुक्ल	15	रविवार	मघा		शीत
भ	फाल्गुन	शुक्ल	9	शुक्रवार	मृगशिरा	दोपहर	ज्वर रोग

(1) म. क. 671 (2) म. क. 672

ग	चैत्र	शुक्ल	14	सोमवार	अश्विनी	प्रभात काल	अतिसार रोग
व	वैशाख	शुक्ल	13	गुरुवार	चित्रा		अकस्मात्
ते	ज्येष्ठ	कृष्ण	14	शनिवार	मृगशिरा	प्रथम पहर	लिंग रोग
वा	आषाढ़	कृष्ण	14	बुधवार	कृतिका	दोपहर	अतिसार रोग
वा	आषाढ़	शुक्ल	8	बुधवार	कृतिका	दोपहर	अतिसार रोग
सु	श्रावण	कृष्ण	10	मंगलवार	ज्येष्ठा	रात्रि	दाह ज्वर
सु	श्रावण	शुक्ल	11	मंगलवार	ज्येष्ठा	रात्रि	दाह ज्वर
पू	भाद्रपद	शुक्ल	11	रविवार	श्रवण	रात्रि	सर्पविष
ज्या	अश्विन	कृष्ण	8	रविवार	अश्लेषा	–	ज्वर रोग
ज्या	आसोज	शुक्ल	8	रविवार	–	–	–
य	कार्तिक	शुक्ल	15	रविवार	पूर्वाषाढ़ा		अतिसार
य	कार्तिक	शुक्ल	15	रविवार	पूर्वाषाढ़ा		अतिसार

मृत्यु काल जानने की दूसरी विधि–इस निःकृष्ट पञ्चम काल में उत्तम संहनन नहीं होते, अतः इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यास की प्राप्ति अति दुर्लभ है, मात्र भक्त प्रत्याख्यान संन्यास साध्य है। आचार्यों ने इसका उत्कृष्ट काल 12 वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है। मध्यम काल के असंख्यात भेद हैं। पूर्वकथित कारण उपस्थित होने पर तो यम अथवा नियम सल्लेखना धारण करनी ही चाहिये, किन्तु निमित्त ज्ञान से अपनी अल्प आयु का निर्णय करके भी सल्लेखना धारण करनी चाहिये।

मानव की मृत्यु के पूर्व उसके शरीर में कुछ ऐसे लक्षण प्रगट होते हैं, जिन पर ध्यान देने से आयु का निर्णय किया जा सकता है आचार्य दुर्गदेव कहते हैं कि–

पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं होइ तं पि तिवि अप्पं।
जीवस्स मरणसीले रिट्ठं णत्थि ति संदेहो।।[1]

इसमें संदेह नहीं कि मरण-समय में पिण्डस्थ (शारीरिक), पदस्थ (चन्द्र, सूर्य आदि आकाशीय ग्रहों के दर्शनों में विकृति) और रूपस्थ (निजच्छाया, परछाया आदि अंगविहीन दर्शन) इन तीन प्रकार के अरिष्टों का आविर्भाव होता है।

अरिष्ट लक्षण–मरण के पूर्व प्रगट होने वाले इन लक्षणों को अरिष्ट कहते हैं, अतः आचार्य अरिष्टों द्वारा आयु का परिज्ञान कर सल्लेखना ग्रहण की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि–

इदि सल्लिहिद सरीरो भविओ जो अवसेणेण वरमरणं।
इच्छ सो इह भालइ इमाइं रिट्ठाइं जंतेण।।[2]

जो भव्य पुरुष सल्लेखना करता हुआ अनशन–आहार को क्रमशः कम करते हुए पूर्ण त्याग द्वारा श्रेष्ठ मृत्यु को प्राप्त करना चाहता है, उसे ध्यानपूर्वक अरिष्टों का सप्रयत्न परिज्ञान करना चाहिये।

जो व्यक्ति निरन्तर विषय–कषायों में रत रहते हैं वे इन अरिष्ट आदि महत्त्वपूर्ण लक्षणों को नहीं समझ पाते और यदि समझ भी लें तो आयु का निर्णय करने के बाद भी आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये आचार्य कहते हैं कि–

आराहणापडायं जो गिण्हइ परिसहे य जिणिऊण।
संसारम्मि य ठिच्चा वोच्छे हं तस्य रिट्ठाइं।।[1]

मैं उस व्यक्ति के अरिष्टों का वर्णन करता हूँ, जो संसार में रहते हुए परीषहों को जीतकर आराधना रूपी पताका–सल्लेखना को ग्रहण करना चाहता है।

पिण्डस्थ रिष्टों का विवेचन–मृत्यु से कुछ समय पूर्व शरीर की स्थिति बनाये रखने वाले परमाणुओं में विपर्यास आ जाता है जिससे उसकी इन्द्रिय-शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर के संघटित परमाणु विघटित होने की ओर अग्रसर होने लगते हैं तब धैर्य और स्मृति में भी न्यूनता आने लगती है। यही प्रक्रिया शारीरिक अरिष्टों की सूचक है। अब "भणियं पिण्डस्थं जिणयणुसारेण" जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार पिण्डस्थ शारीरिक अरिष्टों द्वारा आयु निर्णय के कुछ प्रयोगों का दिग्दर्शन करते हैं यथा:

जिस व्यक्ति को अपने पैर दिखाई न दें तो उसे अपनी आयु तीन वर्ष, जंघा दिखाई न देने पर दो वर्ष, घुटना दिखाई न देने पर एक वर्ष, वक्षस्थल दृश्यमान न होने पर दस माह कटि प्रदेश दिखाई न देने पर 7 माह, कुक्षि दिखाई न देने पर 4 माह, गर्दन दिखाई न देने पर एक माह, हाथ न दिखने पर 15 दिन, बाहु दिखाई न पड़ने पर आठ दिन, कन्धा दिखाई न दे तो तीन दिन और नख एवं दाँत आदि विकृत हो जायें तो 90 दिन की आयु शेष समझना चाहिए। जिस व्यक्ति के धैर्य और स्मृति नष्ट हो पाए जो चलने में असमर्थ हो जाये, जिसे निद्रा बिल्कुल न आवे या अत्यन्त आने लगे, वह चार मास जीवित रहता है।

---

(1) रि. स. 17 (2) रि. स. 14

जो व्यक्ति स्थिर होने पर भी काँपता रहे, एकाएक मोटे से पतला या पतले से मोटा हो जाये, अपना हाथ सिर पर रखकर सोवे, गले में डालने पर जिसकी अंगुलियों का दृढ़ बन्धन न हो, जो दूसरों के केशों एवं सूर्य-चन्द्र के प्रकाश को स्पष्ट न देख सके, जिह्वा इन्द्रिय और लिंग इन्द्रिय (उपस्थ) काले पड़ जायें या विकृत हो जायें, रसना इन्द्रिय को खट्टे-मीठे आदि का ज्ञान न हो, नख, ओष्ठ और दांत काले हो जायें और ललाट की बड़ी-बड़ी रेखाएँ मिट जायें, वह व्यक्ति एक मास जीवित रहता है। (एक साथ सब चिह्न प्रगट नहीं होते कोई एकाध चिह्न प्रगट होता है।)

जिसका शरीर कान्तिहीन हो जाय, बाहर निकलने वाली श्वास तेज हो जाय, तेज सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव न हो, स्नान करने के बाद पहले वक्षस्थल सूखता हो और सर्व शरीर गीला रहे तथा जो दूसरों का रूप न देख सके वह पंद्रह दिन जीवित रहता है।

जिस व्यक्ति की आँखें स्थिर हो जायें, शरीर कान्तिहीन और काष्ठवत् हो जायें, ललाट में पसीना आवे, मुख एकाएक खुल जाये, भौहें टेढी हो जायें, आँख की पुतली भीतर धस जायें, मुख सफेद और विकृत हो जायें, दाँत टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने लगे तथा दुर्गन्ध आने लगे, मस्तक में विचित्र प्रकार की सनसनाहट पैदा हो जायें, शब्दों का उच्चारण यथार्थ न हो, हाथ और पैरों की अंगुलियों की जोड़े न कड़के, कानों के भीतर की आवाज सुनाई न दे, शरीर अकस्मात् ही निर्बल या काला पड़ जाये, मुखमण्डल कमल सदृश गोल और मनोहर हो जाये एवं कपोलों में इन्द्रगोप के समान चिह्न प्रगट हो जाय, सिर के बाल खींचने पर दर्द मालूम न हो, कान में समुद्रघोष सदृश आवाज आने पर, कानों के भीतर होने वाली ध्वनि को न सुनने पर और हथेलियों की चुल्लू न बनने पर अथवा एक बार चुल्लू बन जाने पर उसे अलग करने में यदि देर लगे तो वह व्यक्ति मात्र सात दिन जीवित रहता है। इस प्रकार छह, पाँच, चार, तीन और दो आदि दिनों के भी अनेक लक्षण हैं।

पदस्थ रिष्टों का विवेचन–प्रकृति हमें प्रत्येक इष्टानिष्ट की सूचना दे देती है। जो व्यक्ति विज्ञ हैं, योगशक्ति से युक्त हैं तथा जिनकी आत्मा विशेष पवित्र है, वे ही प्रकृति के रहस्यमय संकेतों को समझने में समर्थ होते हैं। ये रिष्ट आकाशीय दिव्य पदार्थों में, भूमि पर और कुत्ता, बिल्ली, नेवला, सर्प, कबूतर, चींटी, कौआ एवं गाय-बैल आदि के संकेतों द्वारा जाने जा सकते हैं।

---

(1) रि. स. 15

पूर्व भव के पुण्योदय से या इस भव के शुभ कार्यों से जिन व्यक्तियों में प्रमाण मनोवृत्ति वर्तमान है और जो उपपत्ति गुण का प्रयोग करना जानते हैं, वे व्यक्ति यदि जिनेन्द्र भगवान की पूजन कर अथवा स्थिरचित होकर **''ॐ ह्रीं णमो अरिहंताणं कमले कमले विमले विमले उदरदेवी इटि मिटि पुलिंहिणी स्वाहा''** इस मंत्र का 21 बार जाप करके रिष्ट दर्शन करें तो उन्हें कई वर्ष पूर्व अपनी मृत्यु का बोध हो सकता है।

जो व्यक्ति चन्द्रमा को नाना रूपों में तथा छिद्रों से परिपूर्ण देखता है, अर्ध चन्द्र को मण्डलाकार देखता है, जो सप्त ऋषि एवं ध्रुव आदि ताराओं को नहीं देखता तथा दिन में धूप नहीं देखता, ग्रहण के अभाव में भी चन्द्रमा को ग्रहण सदृश रूप से देखता है, सूर्यबिम्ब को छिद्रपूर्ण और अनेक रूपों में देखता है वह व्यक्ति एक वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहता।

जिसे सूर्य या चन्द्र के मध्य भाग में काले या सुरमई रंग की रेखा दिखाई दे, चन्द्रबिम्ब में लाल रंग के सूर्य में काले रंग के धब्बे दिखाई दें, सूर्यबिम्ब लोहित वर्ण का और चन्द्रबिम्ब हरित वर्ण का दिखाई दे, सूर्य-चन्द्र के बिम्बों को अथवा उनके किसी अन्त को बाणों से विद्ध देख, चन्द्रमा को मंगल और गुरू के मध्य देखे अथवा वह जाज्वल्यमान शुक्र ग्रह के समानान्तर दिखाई पड़े तथा मीन राशि की स्थिति चंचल मालूम हो, वह छह मास से अधिक जीवित नहीं रहता।

इस प्रकार अन्य चार, तीन और दो आदि मासों के अनेक रिष्ट दर्शन हैं जिन्हें आगम से जानना चाहिये।

रूपस्थ रिष्ट–जहाँ रूप दिखाया जाये वहाँ रूपस्थ रिष्ट कहा जाता है यह छायापुरूष स्वप्नदर्शन, प्रत्यक्ष, अनुमानजन्य और प्रश्न द्वारा देखा जाता है। इसके देखने की विधि एवं अन्य सभी प्रयोग ''रिष्ट समुच्य'' ग्रंथ से जानने चाहिये।

संस्तरारोहण नक्षत्र से मृत्यु का ज्ञान -

(1) अश्विनी में संस्तरारूढ़ होने से स्वाति में मृत्यु–रात्रि काल
(2) भरणी में संस्तरारूढ़ होने से रेवती में मृत्यु–प्रातः काल
(3) कृतिका में संस्तरारूढ़ होने से उत्तराफाल्गुनी में मृत्यु–मध्याह्न में
(4) रोहिणी में संस्तरारूढ़ होने से श्रावण में मृत्यु–अर्द्धरात्रि में
(5) मृगशिरा में संस्तरारूढ़ होने से स्वाति पूर्वाफाल्गुनी में मृत्यु–अर्द्धरात्रि में
(6) आर्द्रा में संस्तरारूढ़ होने से दूसरे दिन अन्यथा आगामी आर्द्रा में मृत्यु

(7) पुनर्वसु में संस्तरारूढ़ होने से अश्विनी में मृत्यु

(8) पुष्य में संस्तरारूढ़ होने से मृगशिरा में मृत्यु

(9) आश्लेषा में संस्तरारूढ़ होने से चित्रा में मृत्यु

(10) मघा में संस्तरारूढ़ होने से उसी दिन अन्यथा आगामी मघा में

(11) पूर्वाफाल्गुनी में संस्तरारूढ़ होने से घनिष्ठा दिन में मृत्यु

(12) उत्तराफाल्गुनी में संस्तरारूढ़ होने से मूल नक्षत्र के प्रदोष काल में

(13) हस्ता में संस्तरारूढ़ होने से भरणी नक्षत्र में मृत्यु–दिन में

(14) चित्रा में संस्तरारूढ़ होने से मृगशिरा में मृत्यु–रात्रि में

(15) स्वाति में संस्तरारूढ़ होने से रेवती में मृत्यु–प्रभात में

(16) विशाखा में संस्तरारूढ़ होने से आश्लेषा में मृत्यु

(17) अनुराधा में संस्तरारूढ़ होने से पूर्वाभाद्रपद में मृत्यु–दिन में

(18) ज्येष्ठा में संस्तरारूढ़ होने से मूल में प्रातः मृत्यु

(19) पूर्वाषाढ़ा में संस्तरारूढ़ होने से मृगशिरा में मृत्यु–प्रदोष काल

(20) उत्तराषाढ़ा में संस्तरारूढ़ होने से उसी दिन या उत्तराभद्र पद में मृत्यु सन्ध्या में

(21) श्रवण में संस्तरारूढ़ होने से उत्तरभाद्र पद में मृत्यु

(22) घनिष्ठा में संस्तरारूढ़ होने से उसी दिन अथवा पुनः वही दिन आने पर मृत्यु

(23) शतभिषा में संस्तरारूढ़ होने से ज्येष्ठा में मृत्यु

(24) पूर्वाभाद्रपद में संस्तरारूढ़ होने से पुर्नवसु में मृत्यु–रात्रि में

(25) उत्तराभाद्रपद में संस्तरारूढ़ होने से उसी दिन अथवा रात्रि में मृत्यु

(26) रेवती में संस्तरारूढ़ होने से मघा नक्षत्र में मृत्यु

(27) मूल नक्षत्र में संस्तरारूढ़ होने से ज्येष्ठा में प्रातः मृत्यु

संस्तरारोहण विधि –

(1) संस्तरारोहण–शुभ दिन, तिथि, नक्षत्र आदि में होना चाहिए।

(2) संस्तरारोहण के पूर्व निर्यापकाचार्य को क्षपक को वैराग्य शक्ति तथा द्रव्य क्षेत्रादि का पुनः विचार करना चाहिए।

विशेषार्थ–अपेक्षित सहयोग के लिये चतुर्विध संघ, समाज के गणमान्य व्यक्तियों, ज्योतिषी, वैद्य तथा विद्वानों की सलाह लेना चाहिए। सर्व समूह के मध्य क्षपक स्वयं अपनी भावना को प्रकट करता, दुर्लभ समाधि का पुण्य योग्य मुझे प्राप्त हुआ है, मैं सहर्ष अपने जीवन पर्यन्त

लिये गये व्रत रूपी शिखर पर समाधि रूपी स्वर्ण कलशारोहण करना चाहता हूँ। हे भगवान! हे गुरुदेव!! हे कृपा निधान!!! आप मुझे यम सल्लेखना पूर्वक संस्तरारोहण की अनुमति दें, संबोधन दें, यथोचित् सहयोग दें, मैं पुनः विश्वास दिलाता हूँ कि मैं आपकी आज्ञा व मार्गदर्शन का सहर्ष पालन कर सौभाग्य मानूँगा, यदि कभी मेरी ओर से कभी किसी भी प्रकार से कमी दिखे आप उसे जरूर दूर करना आदि मैं आपके उपकारों का चिर ऋणी रहूँगा आदि, बोलकर असमर्थता में मात्र हाथ जोड़कर प्रार्थना करें।

निर्यापकाचार्य क्षपक की भावना की प्रशंसा करते हुए, उसे स्वीकृति प्रदान करें।

पश्चात् सभी मिलकर इस समय कायोत्सर्ग करें।

(1) श्रावकगण क्षपक की निर्विघ्न समाधि के उद्देश्य से शांति, गणधरवलय चौंसठऋद्धि, चारित्रशुद्धि, कर्मदहन, पंचपरमेष्ठी, समवशरण आदि कोई भी विधान करें।

(2) निर्यापकाचार्य द्वारा निर्धारित वसतिका जिस वसतिका में क्षपक संस्तर ग्रहण करेंगे, उसे धोकर या पोतकर या पोंछकर शुद्ध करें।

(3) उसमें नया या पुराना शुद्ध प्रासुक पाटा या घांस (तृण) का निर्दोष संस्तर बनावें।

(4) उसी स्थान पर चतुर्विध संघ सहित निर्यापकाचार्य व क्षपक को जिनाभिषेक दिखावें समयानुसार यथायोग्य जिनार्चना करें।

(5) पुण्याह्वाचन कर दिग्बंधन आदि करें गंधोदक से वसतिका शुद्धि करें। ध्यान रहे कि अब जो भी वसतिका में आये शुद्धि के साथ ही प्रवेश करें।

(6) क्षपक के भी चरणाभिषेक व पूजन करें।

(7) निर्यापकाचार्य-क्षपक को यथावसर नूतन पिच्छि चटाई आदि दें। आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि है तो उनके वस्त्र बदलें।

(8) क्षपक के साथ सभी संघ मिलकर निम्न भक्तियाँ पढ़ें, सिद्ध, योगी, शांति, समाधि भक्ति पढ़ें। सिद्धान्तवेत्ता क्षपक है तो-सिद्ध, श्रुत, योगी, शांति, समाधि भक्ति पढ़ें। सिद्धान्तवेत्ता योगी है तो-सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, शांति, समाधि भक्ति पढ़ें। यदि आचार्य है तो-उनकी योग्यतानुसार उक्त भक्तियों में आचार्य भक्ति सहित शेष सभी भक्तियाँ कर क्षपक संस्तर को स्वीकार करें। यदि भक्तियाँ पढ़ने में या बोलने में क्षपक असमर्थ है तो निर्यापकाचार्य सहित चतुर्विध संघ भक्तियाँ पढ़ें क्षपक सावधानी से भाव सहित सुने।

27. निर्यापक अधिकार

निर्यापक–जो समाधि में सहायक हैं वे निर्यापक (परिचारक) हैं, निर्यापक 48 होते हैं। प्रत्येक निर्यापक निम्नांकित गुण सम्पन्न होते हैं।[1]

(1) जो मुनि चारित्र में स्थिर हैं, (2) रत्नत्रय धर्म जिन्हें प्रिय हैं, (3) संसार से उदासीन हैं, (4) पाप भीरू हैं, (5) प्रसिद्ध हैं, (6) क्षपक के इशारे को, अभिप्राय को बिना कहे जानते हैं, (7) योग्य-अयोग्य को जानने में कुशल हैं, (8) त्याग की विधि में निपुण हैं, (9) परीषह सहने में धीर हैं, (10) क्षपक को समाधान कराने वाले हैं, (11) जो निर्यापकाचार्य के विश्वास पात्र हैं, (12) प्रत्याख्यान के ज्ञाता हैं, (13) जिसने पूर्व में समाधि देखी या करायी है, इत्यादि गुणों से युक्त निर्यापक-परिचारक होते हैं।[1]

यथायोग्य आहार को जानने में कुशल, क्षपक के चित्त का समाधान करने वाले, प्रायश्चित्त ग्रंथ के रहस्य को जानने वाले, आगम के ज्ञाता हों।[2]

48 परिचारक व्यवस्था–4 मुनि–सावधानतापूर्वक क्षपक के हाथ पाँव दबाना, चलने में सहारा देना, सुलाना, बैठाना, खड़ा करना, करवट दिलवाना, पाँव पसारना व सिकोड़ना आदि उपकार करते हैं।

4 मुनि–विकथाओं का त्याग कर क्षपक को अंसदिग्ध, मधुर हृदयस्पर्शी सुखकर, संवेग, निर्वेगपरक तथा हितप्रद एवं आक्षेप निर्वेद, निर्वेग इन कथाओं को कहते हैं तथा धर्मोपदेश देते हैं।

4 मुनि–भिक्षा लब्धि युक्त परिचायक याचना के प्रति ग्लानि का त्याग करके क्षपक के लिये उसकी रूचि व प्रकृति के अनुसार उद्‌गमादि दोषों से रहित आहार माँग कर लाते हैं।

4 मुनि–क्षपक को पीने योग्य पेय वस्तुओं को माँग कर लाते हैं।

4 मुनि–आहार एवं पेयों की चूहों आदि से रक्षा करते हैं।

4 मुनि–क्षपक को मल, मूत्र कराने तथा उसकी वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को शोधने का कार्य करते हैं।

4 मुनि–क्षपक की वसतिका के द्वार पर बैठते हैं ताकि असंयत जन वहाँ प्रवेश न कर सकें।

4 मुनि–धर्मोपदेश मण्डप के द्वार की रक्षा करते हैं।

---

(1) भ. आ. वि. 68

4 मुनि–निद्रा जयी क्षपक के पास रात्रि जागरण करते हैं।

4 मुनि–उस नगर या देश की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते हैं।

4 मुनि–आगन्तुक श्रोताओं को सभा मण्डप में आक्षेपणी आदि कथाओं का तथा स्वपर समय (मत) का सावधानतापूर्वक उपदेश देते हैं ताकि क्षपक उसे न सुनें।

4 मुनि–शास्त्र निपुण, क्षोभ रहित, उत्तेजना रहित, वादी मुनि धर्म कथा करने वाले उपर्युक्त मुनियों की रक्षार्थ सभा में इधर-उधर घूमते है।[1]

भरत, ऐरावत क्षेत्र में उत्कृष्ट रीति से 48 परिचारक, मध्यम रीति से 44 होना चाहिए। जघन्य रीति से कम से कम दो साधु होना चाहिए।[2]

स्व पर उपकार में तत्पर निर्यापक और परिचारक उत्कृष्ट 48 होते हैं। संक्लेश परिणाम युक्त काल में वे चार तक भी होते हैं और अतिशय संक्लेश काल में दो निर्यापक भी क्षपक के कार्य को साध सकते हैं, परन्तु जिनागम में एक निर्यापक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं है। यदि एक ही निर्यापक होगा तो उसमें आत्म त्याग, क्षपक का त्याग और प्रवचन का भी त्याग हो जाता है। एक निर्यापक से दुःख होता है और रत्नत्रय में एकाग्रता के बिना मरण हो जाता है तथा धर्म दूषण तथा दुर्गति भी होती है।

अकेला निर्यापक यदि क्षपक की सेवा में लगा रहेगा तो आहार ग्रहण विश्राम आदि नहीं कर सकेगा अतः स्वयं का त्याग होगा संभव है तथा निर्यापक यदि अपने उक्त कार्य में लगा रहेगा तो क्षपक के विनाश का प्रसंग आयेगा। निर्यापक और क्षपक का अशांति से मरण हुआ तो मुनिधर्म या प्रवचन का नाश होगा।[3]

निर्यापकाचार्य क्षपक के समाधिमरण की सूचना चतुर्विध संघ के निकट भेजता है जिसे सुनकर अन्य संघ वाले निर्यापकाचार्य के निर्दोषता को ज्ञात कर उपस्थित होते हैं अन्यथा भजनीय है अर्थात् उपस्थित हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।[4]

जो समाधि के समाचार सुनकर भी भक्ति से क्षपक के पास नहीं जाता है उस जीव की समाधिमरण में भक्ति कैसे हो सकती है?[5]

जिसकी समाधिमरण में भक्ति नहीं है उसका मरते समय समाधिपूर्वक मरण नहीं होता है।[6]

क्षपक की वैय्यावृत्ति–(1) पानक पदार्थ का सेवन करने वाले क्षपक को पेट के मल की शुद्धि करने के लिये माड़ के समान मधुर रेचक औषधि देना चाहिए।

---

(1) म. क. 676, 677 (2) भ. आ. वि. 646-647

(2) उसके पेट को सेंकना चाहिये।

(3) सेंधा नमक आदि की बत्ती को गुदा में लगाना चाहिए। ऐसा करने से उसके उदर का मल आसानी से निकल जाता है।

(4) जो निर्यापक क्षपक की उपेक्षा करता है अर्थात् समय पर यथायोग्य वैय्यावृत्ति नहीं करता है वह उन गुणों से भ्रष्ट होता है।

(5) रोग निदान मुनि को वैद्य के उपदेशानुसार अपनी सर्वशक्ति से रोग परिहार करना चाहिये।

अपवाद रूप से -

(6) जीभ और कानों की शुद्धि के लिये क्षपक को कई बार तेल या कषायले (त्रिफला) पदार्थ के कुल्ला कराना चाहिए। कानों में तेल डालना चाहिये तथा मल शुद्धि के लिये एनीमा कराना चाहिए।

(7) सर्दी में उष्णोपचार और गर्मी में शीतोपचार करना चाहिये।

(8) आवश्यकता पर अंग मर्दन करना चाहिये।
तीन प्रकार का आहार मात्र दिखाकर अथवा इच्छा होने पर थोड़ा खिलाकर अथवा पूर्ण खिलाकर उससे विरक्ति का उपदेश देकर एक साथ अथवा धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए।

(9) वेदना की अशक्यता से दुःखी होकर तथा परीषह उपसर्ग से व्याकुलित होकर क्षपक अपने आप में नहीं रहेगा, जिससे वह बड़-बड़ करेगा। अयोग्य भाषण बोलेगा, संयम से गिरने की वृद्धि करेगा, रात्रि को भोजन पान करने अथवा दिन में प्रथम भोजन करने का विचार उसके मन में उत्पन्न होगा। कोई क्षपक सावद्य होकर कर्मोदय से परीषहों से व्याकुलित होकर जो कुछ भी उचित अनुचित भाषण करेगा अथवा ली हुई प्रतिज्ञाओं को भंग करेगा। इत्यादि परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी निर्यापकाचार्य उसे कड़वे और कठोर शब्द न बोले, उसकी भर्त्सना न करें, उसको भय न दिखावें, अथवा उसका अपमान न करें, किन्तु उसे अपनी कुशलता के साथ यथायोग्य उपदेश देकर सहनशीलता, धैर्य, भव, भोग भीरूता एवं बोधि दुर्लभ विषयक उपदेश देकर उपगूहन पूर्वक स्थितिकरण करें।

---

(1) भ. आ. 648-668 (2) भ. आ. 669-672 (3) म. क. 703-704 (4) म. क. 708-709
(5) म. क. 712 (6) भ. आ. 683

28. प्रकाशन अधिकार

आराधक के सामने अन्तिम आहार का दिखाना प्रकाशन है।[1]

क्षपक को आहार दिखाकर उसका त्याग कराना चाहिए। क्षपक को आहार न दिखाकर ही यदि तीन प्रकार के आहारों का त्याग कराया जायेगा, तो वह क्षपक किसी आहार विशेष में उत्सुक होगा इसलिए अच्छे-अच्छे आहार के पदार्थ बर्तनों में पृथक परोसकर उस क्षपक के समीप लाकर उसे दिखाना चाहिए। ऐसे उत्कृष्ट आहार को देखकर कोई क्षपक "मैं तो अब इस भव के दूसरे किनारे को प्राप्त हुआ हूँ" इन आहारों की अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं है ऐसा मन में समझकर भोग से विरक्त तथा संसार से भयमुक्त होकर आहार का त्याग कर देता है। कोई उसमें से थोड़ा सा खाकर और कोई सम्पूर्ण आहार करके उपरोक्त प्रकार ही विचार करता हुआ उसका त्याग करता है।[1]

परन्तु कोई क्षपक दिखाया हुआ आहार भक्षण कर उसके स्वादिष्ट रस में लुब्ध होकर अथवा उस सम्पूर्ण आहार को बारम्बार भक्षण करने की इच्छा रखता है अथवा उसमें किसी एक पदार्थ को खाने की अभिलाषा रखता है।[2] ऐसे क्षपक कदाचित् निर्यापक का उपदेश सुनक उससे विरक्त होता है और इस पर भी विरक्त न हो तो धीरे-धीरे क्रमपूर्वक उसका प्रत्याख्यान कराया जाता है।

29. हानि अधिकार

क्रम से आहार को त्याग को हानि कहते हैं।[3]

निर्यापकाचार्य आहार अभिलाषा के दोष बताते हैं, तत् विषयक विभिन्न प्रकार का उपदेश देते हैं, वैराग्य वर्द्धक दृष्टांत सुनाते हैं, फिर भी क्षपक उस आहार में प्रेमयुक्त ही रहा तो समाधि मरण की इच्छा रखने वाले उस क्षपक के सम्पूर्ण आहारों में से एक-एक आहार को घटाते हैं। अर्थात् क्षपक से एक-एक आहार का त्याग कराते हैं। आचार्य उपर्युक्त क्रम से मिष्ठ आहार का त्याग कराकर क्षपक को सारे भोजन में स्थिर करते हैं, तब वह क्षपक भात वगैरह अशन वगैरह खाद्य पदार्थों को क्रम से कम करता हुआ पानक आहार करने में अपने को उद्युक्त करता हैं।[4]

30. प्रत्याख्यान अधिकार

(1) भ. आ. वि. 68

प्रत्याख्यान—तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है।[5]

संघ के समुदाय में सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकार के आहारों का निर्यापकाचार्य क्षपक को त्याग कराते हैं अथवा इतर प्रत्याख्यान भी क्षपक गुरु की आज्ञा से करता है अर्थात् क्षपक के चित्त की एकाग्रता के लिये पानक के अतिरिक्त अशन, खाद्य और स्वाद्य ऐसे तीन प्रकार के आहारों का त्याग कराना चाहिए। जब क्षपक की शक्ति अतिशय कम होती है, तब पानक का भी त्याग कराना चाहिए अर्थात् परीषह सहन करने में जो खूब समर्थ हैं, उसको चार प्रकार के आहार का और असमर्थ साधु को तीन प्रकार के आहार का त्याग कराना चाहिए।

क्रम-क्रम से आहार को छोड़कर दुग्ध व छाछ बढ़ावें पश्चात् दुग्धादि को छोड़कर कांजी और गरम जल को बढ़ाते है। तदनन्तर उष्ण जल का भी त्याग कर शक्त्यनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्र को मन में धारण करता हुआ शरीर को छोड़ने का उद्यम करें।

पानक के छः भेद—पानक के छः भेद हैं—एक भेद स्वच्छ है। जैसे गर्मजल सौवीरक। इमली आदि फलों के रस को बहल कहते हैं। यह दूसरा भेद हैं। दही आदि लेवड़ है जो हाथ से लिप्त हो जाता है। यह तीसरा भेद है। जो हाथ से लिप्त न हो वह चौथा भेद अलेवड़ है। सिक्थ सहित पेय पाँचवां भेद है और सिक्थरहित पेय छठा भेद हैं। ये छः प्रकार का पानक परिकर्म के योग्य हैं।[1]

पानक का सेवन करने वाले क्षपक को पेट के मल की शुद्धि के लिए माँड़ की तरह मधुर विरेचन पिलाना चाहिए। अनुवासन और गुदाद्वार में बत्ती आदि चढ़ाकर पेट के मल की शुद्धि करना चाहिए। गाथा में आये उदर शब्द से पेट का मल लेना चाहिए उसको निकालना उदर मल का शोधन है ऐसे महान प्रयास के द्वारा पेट के मल को निकालने का यह कारण है कि उदर में रहा हुआ मल कष्ट देता है।[2]

आचाम्ल—यह कफ नाशक, पित्तोपशामक एवं वायु रक्षक होता है इसका उपयोग करना चाहिए अथवा आयुर्वेदानुसार त्रिदोष विनाशक आहार देना चाहिए। पेट की शुद्धि के लिये कांजी में भीगें हुए विल्व पत्तों से क्षपक के पेट को सेंकना चाहिए। मल शुद्धि कराना चाहिए क्योंकि मल शुद्धि न होने पर बड़ी पीड़ा हो सकती है।[3]

तीन प्रकार के आहार त्याग के सम्मुख क्षपक की सूचना आचार्य संघ को देते हैं। शल्य

---

(1) भ. आ. 688-692 (2) म. का. 725 (3) भ. आ. वि. 68 (4) भ. आ. 694-698 (5) भ. आ. वि. 69

रहित असमर्थ क्षपक की ओर से त्रियोग शुद्धि पूर्वक क्षमा याचना करते हैं यह सुन सर्व संघ क्षपक की निर्विघ्न समीचीन आराधना हो इस भावना से कायोत्सर्ग करते हैं। समयानुसार निर्यापकाचार्य क्षपक को चारों प्रकार के आहार का त्याग कराते हैं।

तत्पश्चात् यह क्षपक आप सबसे क्षमा माँगता है इसके प्रमाण के लिए आचार्य उस क्षपक की पिच्छिका लेकर सर्वसंघ की वसतियों में दिखलाते हैं। अर्थात् क्षपक सबके पास क्षमा माँगने स्वयं नहीं जा सकता, इसलिए उसकी पिच्छि सर्वत्र ले जाकर दिखलाते है कि वह आप सबसे क्षमा माँगता है।[4]

इस प्रकार का क्षपक का अभिप्राय जानकर संघ को क्षपक की रत्नत्रय की आराधना पूर्ण हो और उसमें कोई विघ्न न आवे इसके लिए सर्वसंघ को कायोत्सर्ग करना चाहिए।[5]

31. क्षामण अधिकार

आचार्य आदि से क्षमा माँगना क्षामण है।[1]

अंतिम क्षमा ग्रहण विधि–मुमुक्षु का जो कर्तव्य है वह सब मैंने किया, इस विचार से उस क्षपक के चित्त में अत्यन्त प्रसन्नता होती है और धर्मानुराग को प्रकट करते हुए दोनों हाथों की अंजलि मस्तक से लगाकर प्रणामपूर्वक समस्त मुनिसंघ से वह क्षमा माँगता है कि मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से पूर्व में किये गये सब अपराधों की मैं निःशल्य होकर क्षमा माँगता हूँ।

गुणों का समूह रूप यह संघ समस्त प्राणियों को सुख देने वाला है, निकट भव्यजीवों का आधार है। यह संघ मुझे माता-पिता के समान क्षमा प्रदान करें। मैं भी क्रोधादि दोषों से शुद्ध होकर किये हुए अपराध को मन से निकाल देता हूँ। गुणों के समूह का नाम संघ है। यह संघ कर्मों से छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के मेल से संघ होता है।[2] अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगारों का समूह संघ कहलाता है अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के समूह को संघ कहते हैं।

32. क्षपणा अधिकार

(1) भ. आ. 699 (2) भ. आ. 701-702 (3) म. क. 731-733

क्षपणा—क्षपक द्वारा कर्मों की निर्जरा होना क्षपणा है।[3] इस प्रकार सर्वसंघ को क्षमा प्रदान करके उत्कृष्ट वैराग्य को धारण कर, तप और समाधि में लीन हुआ क्षपक भव भव में कष्ट देने वाले कर्मों की निर्जरा करता है। धार्मिकों का संरक्षण करने वाले निर्यापक मुनिगण रात-दिन बिना थके उस क्षपक की समस्त परिचर्या में लगे रहते हैं और इस प्रकार कर्मों की निर्जरा करते हैं। इस प्रकार संस्तर पर आरुढ़ क्षपक प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय और बारह भावनाओं को भाने से कर्मों की निर्जरा करता है।[1]

संस्तर में स्थित क्षपक प्रतिक्रमण में तत्पर हो, चाहे कायोत्सर्ग में लीन हो अथवा स्वाध्याय और विनय में प्रवृत्त हो, अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में लगा हो इनमें से जो कोई कार्य कर रहा है सबमें ही कर्म निर्जरा होती है। जीव के अनशन तप में उद्यत होने पर संसार के भय को उत्पन्न करने वाला समस्त पाप कर्म नष्ट होता है, जैसे कि चन्द्रमा के पीछे कमलों के विकास का कारण ऐसे सूर्य के उदित होने पर गाढ़ अंधकार नष्ट हो जाता है।[2]

33. अनुशिष्टि (शिक्षण) अधिकार

अनुशिष्टि—निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते हैं वह अनुशिष्टि है।[3]

आचार्य का उपदेश—निर्यापक आचार्य संस्तर पर आरूढ़ क्षपक को श्रुतज्ञान के अनुसार उसके कान में शिक्षा देते हैं वह शिक्षा संसार से भय तथा वैराग्य को उत्पन्न कराती है।[4]

सम्यक्त्व को दृढ़ रखने का उपदेश—निर्यापकाचार्य कहते हैं कि हे क्षपक! सम्यक्त्व की आराधना के द्वारा उस मिथ्यात्व को दूर कर। ऐसा करने से पंचपरमेष्ठी के नमस्कार में ज्ञान और व्रतों की भावना में चित्त दृढ़ होता है। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद, तीर्थंकर पद आदि कल्याण परम्परा को प्राप्त करते हैं। मूल्य के रूप में समस्त लोक देने पर भी सम्यक्त्वरत्न प्राप्त नहीं होता।[5]

भक्ति करने का उपदेश—हे क्षपक! ग्लानि रहित भाव से अर्हन्त, सिद्ध, उनके प्रतिबिम्ब, प्रवचन, आचार्य और सर्वसाधुओं में तीव्र भक्ति करो। विद्या भी भक्तिमान की ही सिद्ध और सफल होती है। तब जो अर्हन्त आदि में भक्ति नहीं रखता उसके मोक्ष का बीज रत्नत्रय कैसे सिद्ध (प्राप्त) हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।[6]

---

(4) भ. आ. 704 (5) भ. आ. 705 (1) भ. आ. वि. 69 (2) भ. आ. 710-713 (3) भ. आ. वि. 69

दर्शन आदि आराधनाओं के नायक अर्हन्त आदि की जो मनुष्य भक्ति नहीं करता, वह संयम में अत्यन्त तत्पर होते हुए भी धान्य को ऊसर भूमि में बोता है। आराधना के नायकों की भक्ति न करके जो आराधना अर्थात् रत्नत्रय की सिद्धि चाहता है, वह बीज के बिना धान्य चाहता है और बादलों के बिना वर्षा चाहता है।[1]

णमोकार मंत्र की आराधना करने का उपदेश—नमस्कार मंत्र आराधना का अग्रसर है, नमस्कार मंत्रपूर्वक ही आराधना की जाती है। यह पंचनमस्कार मंत्र पाँच परावर्तन रूप संसार का क्षय करने वाला है। अतः सब ओर से मन को हटाकर विशुद्ध लेश्यापूर्वक नमस्कार मंत्र की आराधना करना। इसे छोड़ना नहीं। अरहन्त आदि पाँचों का मन से गुणानुस्मरण, वचन से गुणानुवाद और काय से नमस्कार यह नमस्कार पद का अर्थ है। मरते समय यदि एक बार भी अर्हन्तों को नमस्कार किया तो उसे जिनागम में संसार का उच्छेद करने में समर्थ कहा है। भाव नमस्कार के बिना जो सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र होते हैं वे संसार का उच्छेद करने में समर्थ नहीं है।[2]

मन वश में करने की विधि—इधर-उधर कूदने वाले मनरूपी बन्दर को जिनागम में सदा लगाना चाहिए। जिनागम में लगे रहने से वह मनरुपी बन्दर उस ज्ञानाभ्यास करने वाले में रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकेगा।[3]

ज्ञानरुप प्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है, क्योंकि ज्ञानरुपी प्रकाश में रहने वाले का पतन नहीं होता। सूर्य तो अल्पक्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, आशय यह है कि समस्त वस्तुओं में व्याप्त ज्ञान के समान अन्य प्रकाश नहीं है। ज्ञान, संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रकाशित करता है। तप निर्जरा का कारण है। संयम गुप्तिकारक है। इन तीनों के मिलने पर जिनागम में मोक्ष कहा है।[4]

जीव दया का उपदेश—जैसे तुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही उन जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा जानकर अपनी ही तरह सदा जीवों में व्यवहार करो अर्थात् किसी को दुःख मत दो। जैसे अणु से छोटा कोई अन्य द्रव्य नहीं है और आकाश से बड़ा कोई नहीं है वैसे ही अहिंसा से महान कोई अन्य व्रत नहीं है। जीवों का घात, अपना ही घात है। और जीवों पर की गई दया अपने पर की, की गई दया है। जो एक बार एक जीव का घात करता है वह

(1) भ. आ. 714, 715, 718 (2) म. क. 748-749 (3) भ. आ. वि. 69 (4) भ. आ. 719 (5) भ. आ. 725, 740 (6) भ. आ. 743, 747

स्वयं अनेक जन्मों में मारा जाता है और एक बार जीव पर दया करता है, वह स्वयं अनेक जन्मों में दूसरे जीवों के द्वारा रक्षा किया जाता है। इसलिए दु:ख से डरने वाले मनुष्य को विषैले काँटे की तरह हिंसा से बचना चाहिए।[1]

इसी प्रकार निर्यापकाचार्य क्षपक के लिए अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये महाव्रत हैं। समिति, गुप्ति, व्रतों के अतिचार भावना शल्य आदि का सविस्तार समझाते हैं।

निःशल्य रहने का उपदेश—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन, समयग्ज्ञान और सम्यक् "चारित्र रूप रत्नत्रय को विशुद्ध करते हैं। अर्थात् निदान न करने से निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शन के निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र विशुद्ध होता है। तब विशुद्ध ज्ञान चारित्र से सम्पन्न मुनि तप के द्वारा सब कर्मों का क्षय करता है।[2]

तप न करने से हानि—हे क्षपक! अपनी शक्ति को न छिपाकर आभ्यंतर और बाह्य तप में उद्योग करो। सुख में और शरीर में आसक्त मत होओ और न आलस्य करो। जो शरीर और सुख में आदर भाव रखता है वह उनके विरोधी तप में प्रयत्न नहीं करता। तथा आलसी भी तप में प्रवृत्ति नहीं करता। इससे सुख और शरीर में आसक्ति तथा आलस्य को तप के लिये विघ्नकारी कहा है। सुख में आसक्त होने से, आलस्य से और शरीर में प्रतिबद्ध होने से जो शक्ति होते हुए भी शक्ति के अनुसार तप नहीं करता। उसका परिणाम शुद्ध नहीं है। अत: शक्ति के अनुसार तप नहीं करता। उसका परिणाम शुद्ध नहीं है। अत: शक्ति के अनुसार तप में प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है तथा सुख और शरीर में आसक्ति होने से उसकी धर्म में तीव्र श्रद्धा नहीं है। जो शक्ति के अनुसार तप में तत्पर नहीं है वह आत्मा को ठगता है और अपनी शक्ति को छिपाता है तथा सुख में आसक्त होने से असातावेदनीय को बांधता है जो अनेक भवों में दु:खदायी है। आलसी होने से वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्म का बंध करता है तथा शरीर में आसक्ति रखने से वह साधु परिग्रही होता है। तप में अपनी शक्ति को छिपाने रूप मायाचार में वे सब. दोष होते हैं जो पूर्व में माया के दोष कहे हैं। जो धर्म में अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्म में धर्म की प्राप्ति दुर्लभ होती है।[3]

तप करने से गुण—सम्यक् रूप से तप करने से इस जन्म में और पर जन्म में सातिशय पूजा प्राप्त होती है तथा तप से इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं। सम्यक् संयम पूर्वक किया गया थोड़ा सा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है। जैसे थोड़ा सा भी वट बीज अनेक शाखा

---

(1) भ. आ. 748-749 (2) भ. आ. 752-755 (3) भ. आ. 764 (4) भ. आ. 767-768

प्रशाखाओं से पूर्ण वटवृक्ष रूप से फलता है, उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है। धान्य आदि की खेती बहुत सावधानता से परिश्रमपूर्वक करने पर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं। किन्तु सम्यक् प्रकार से किये गये तप के फल देने में कोई विघ्न नहीं आता। निर्विघ्न फल देना तप का माहात्मय है। जैसे रोग से पीड़ित पुरुष के लिए प्रयत्नपूर्वक दी गई अतिशक्तिशाली औषध होती है। उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोग से पीड़ित की श्रेष्ठ औषध तप है। तप करने से जन्म मरण के कारण कर्मों का विनाश होता है। इससे तप को जन्म मरण का विनाशक कहा है। संसाररूपी महादाह से जलते हुए प्राणी के लिए तप जलघर है, जैसे सूर्य की किरणों से जलते हुए मनुष्य के लिए धाराघर होता है। तप सांसारिक दुःखों को निर्मूल करता है यह इससे सूचित किया है। सम्यक् तप करने से पुरुष बंधु की तरह लोगों को प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तप से मनुष्य सब जग का प्रिय होता है तथा सम्यक् तप से मनुष्य माता की तरह लोक का विश्वासभाजन होता है।[2]

सम्यक् तप भय में रक्षा करता है, अभ्युदयों की खान है और अविनाशी सुख स्वरुप मोक्ष में जाने के लिए नसैनी है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक् रूप से किये गये तप के द्वारा न प्राप्त होता हो। जैसे प्रज्वलित आग तृण को जलाती है वैसे ही तप रूपी आग कर्मरूपी तृणों को जलाती है। सम्यक् रूप से किये गये और कर्मास्रव से रहित तप के फल का वर्णन करने में जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नहीं है। इस प्रकार तप को महान उपकारी जानकर संयम में स्थित संयमी जनों को नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मा में तप की भावना करनी चाहिए।[1]

इस शिक्षा के अनन्तर उस क्षपक का मुख रूपी कमल आचार्य रूपी सूर्य के वचन रूपी किरणों से प्रफुल्लित हो जाता है, चित्त के प्रसन्न होने से कमल की विरूपता चली जाती है और उसमें से प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर खिला हुआ कमलों का वन शोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य के अभिमुख हुए यतियों के मुख कमलों से जो आश्चर्य युक्त नेत्र रूपी पत्रों से संयुक्त होते हैं, वह मुनिसभा शोभित होती है। आचार्य के उपदेश रूपी अमृत का पान करके चित्त के आह्लाद युक्त होने पर क्षपक वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है।[2]

उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्य का उपदेश सुनकर वैराग्य से भर जाता है और उठाकर

(1) भ. आ. 776, 783, 793 (2) भ. आ. 1277 (3) भ. आ. 1445-1450

(शरीर के) अंगों को नम्र करके विनयपूर्वक आचार्य की वंदना करता है। क्षपक कहता है–हे भगवन्! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया। आपने जो–जो जिस प्रकार कहा है, मैं वैसा ही करूँगा। जिस प्रकार से मैं संसार से पार उतरूँ, जिस प्रकार से आपको परम संतोष हो, मेरे कल्याण में संलग्न आपका और संघ का परिश्रम जिस प्रकार से सफल हो, जिस प्रकार मेरी और संघ की कीर्ति फैले, मैं संघ की कृपा से उस प्रकार रत्नत्रय की आराधना करूँगा। वीर पुरुषों ने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा। आपके इस प्रकार के उपदेशामृत को पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख, प्यास और मृत्यु से डरेगा। अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणों के अनुग्रह से इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी आराधना में विघ्न नहीं कर सकते। तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियों के विषय और कषाय, ध्यान में विघ्न कैसे कर सकते हैं। सुमेरु अपने स्थान से विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके अनुग्रह से मैं विकार से विचलित नहीं होऊँगा। इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरुढ़ होकर अपनी शक्ति को न छिपाकर पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त निरालस्य होते हुए उसे सदा सत् शिक्षा देते हैं।[1]

34. सारणा अधिकार

सारणा–दुःख से पीड़ित होकर बेहोश हुए चेतना रहित आराधक को सचेत करना सारणा है।[2]

हित एवं प्रिय वचन बोलने वाले निर्यापक बिना विश्राम के क्षपक को शिक्षा देते हैं जिससे यथोक्त तप करके क्षपक बड़ी भारी कर्मों की निर्जरा करता है।

संस्तररुढ़ क्षपक का आहार–समाधिमरण में उद्यमी क्षीणकाय क्षपक के लिये कटुक, तीखा, कषायला, नमकीन, स्वादु, मीठा इन रसों में से मध्यम रसों का पानक देना उपयुक्त होता है।[3]

क्षपक को दिया जाने वाला पानक, कटुक, चरपरा, खट्टा, क़षैला, नमक वाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गंधयुक्त नहीं होना चाहिए अर्थात् वह न कटुक हो न चरपरा हो, न खट्टा

---

(2) भ. आ. 1453-1458 (1) भ. आ. 1466-1469 (2) भ. आ. 1472-1474

हो, न कषायला हो, न नमक से युक्त हो न मीठा हो वृथा स्वादहीन व दुर्गन्धयुक्त न हो। स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो। कफ पैदा करने वाले न हो। कपड़े से छान लिया हो। इस प्रकार कमजोर क्षपक को ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिए पथ्य हो अर्थात् समाधि में विघ्न डालने वाला न हो।[1]

क्षपक की अस्वस्थ अवस्था में निर्यापकाचार्य का कर्तव्य—जब संस्तरारूढ़ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्व विधि से पानक का त्याग कराना चाहिये। इस प्रकार संस्तरारूढ़ क्षपक के कर्म के उदय से किसी अंग में, ध्यान में विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये या समुद्र के मध्य में रत्नों से भरी नाव की तरह हजारों गुणों से भरी यति रूपी नौका यदि भंयकर संसार सागर में डूबने लगे या गुणों से भरी नाव को संसार समुद्र में डूबते देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है। तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा। जो क्षपक की उपेक्षा करता है। वह पूर्व में जो वैय्यावृत्ति के गुण विस्तार से कहे हैं उनसे च्युत होता है। अत: उस क्षपक के रोग की चिकित्सा जानने वाले निर्यापकाचार्य को स्वयं अथवा वैद्य के परामर्श से सर्वशक्ति के साथ इलाज करना चाहिये। उस क्षपक की वेदना के विकार को जानकर प्रासुक द्रव्यों से वात, पित्त और कफ को रोकने वाला प्रतिकार करना चाहिये। बस्तिकर्म (एनिमा) गर्म लोहे से दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जल का सेवन कराना, मालिश, अंगमर्दन आदि के द्वारा क्षपक की वेदना दूर करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिकार करने पर भी तीव्र पाप कर्म के उदय से यदि क्षपक की वेदना शांत न हो, क्योंकि केवल बाह्य द्रव्य के प्रभाव से ही कर्म अपना फल न दे, ऐसी बात नहीं है। वही बाह्य द्रव्य एक की वेदना शांत करता है दूसरे की नहीं करता, यह तो अनुभव सिद्ध है।[2]

यदि क्षपक प्यास आदि की वेदना से अभिभूत हो जाये या उपसर्गों से पीड़ित होकर मूर्छित हो जाये या वेदना से पीड़ित और परीषह उपसर्गों से व्याकुल होकर क्षपक अपने वश में न रहे और जो कुछ भी बकने लगे, अयोग्य वचन कहे या संयम गुण की सीढ़ी से नीचे उतरना चाहे या निचले स्थान को चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रि में पानक लेना चाहे, या दिन में असमय में भोजन करना चाहे इस प्रकार जब क्षपक मोह में पड़ जाये तो आचार्य को उसे सब पिछली बातों का स्मरण कराना चाहिए। जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हों और उसको यथार्थ ज्ञान लौट आवे। तुम कौन हो? तुम्हारा क्या नाम है? कहाँ रहते हो? इस समय दिन है या रात

---

(1) भ. आ. 1475-1484 (2) भ. आ. वि. 69 (3) म. क. 1568-1569

है? तुम क्या करते हो? कहाँ बैठे हो? मेरा क्या नाम है? इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षा के लिये कि यह सचेत अवस्था में है या अचेत अवस्था में है, वात्सल्य भाव से उसे बार-बार स्मरण कराते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि यदि यह सचेत है तो उसके संयम की रक्षा की जाये।[1]

यदि आचार्य उस चलायमान चित्त वाले क्षपक को इस प्रकार स्मरण न करावें तो समझना चाहिये उस निर्दयी ने उस क्षपक को त्याग दिया है। स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असाता वेदनीय का उपशम होने से योग्य अयोग्य के विचार विषयक स्मृति को प्राप्त होते हैं कि अकाल में खाने-पीने की इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं हैं। जो मैं त्याग कर चुका उसे अकाल में भी कैसे ग्रहण करूँ? आदि किन्तु कोई तो इन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म की उदीरणा होने पर स्मृति प्राप्त नहीं करते हैं। स्मृति को जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्य को निरन्तर प्रतिकार करते रहना चाहिये। तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये।[2]

35. कवच अधिकार

कवच–जैसे कवच में सैंकड़ों वाणों के लगने से होने वाले दुःख को दूर करने की सामर्थ्य है। वैसे ही निर्यापकाचार्य जो धर्मोपदेश देते हैं-तूनें चार गतियों में भ्रमण करते हुए दुःसह दुःख सहे और कर्मों के अधीन होकर भोगे जिनसे कोई लाभ नहीं। किन्तु इस समय का दुःख सहना निर्जरा के लिए है, सब दुःखों का अन्त करने वाला है और अतिन्द्रिय, अचल, अनुपम तथा वाधा रहित सुख को भी देगा इस प्रकार दुःख को दूर करने के गुण की समानता से उसे कवच शब्द से कहा है।[3]

क्षपक चेतना को प्राप्त करके भी कर्म के उदय से परीषहों से हारकर यदि अयोग्य वचन वोले, या रुदन करे या अपने व्रत प्रतिज्ञा को भंग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिए। न उसका हास्य करना चाहिये, न उसे दुःख देना चाहिए और न उसका अनादर करना चाहिए। कठोर वचन आदि से भड़क कर वह अभिमानी क्षपक संयम से च्युत हो सकता है या दुर्ध्यान में लग सकता है अथवा सम्यक्त्व को त्याग

---

(4) भ. आ. 1485-1486 (1) भ. आ. 1487-1495

सकता है।[4]

यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादा को तोड़ना चाहे तो निर्यापकाचार्य उसकी रक्षा के लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करें जो परीषहों का निवारण कर सके। आचार्य को स्नेह सहित, कानों को प्रिय, हृदय में सुख देने वाले तथा हृदय में प्रवेश करने वाले वचनों से क्षपक को धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये।[2]

हे सुन्दर आचार वाले! तुम दीनता और मूढ़ता को त्याग कर चारित्र में बाधा डालने वाली छोटी या बड़ी व्याधियों, को महती वेदना को, धैर्यरुपी बल से जीतो। राग और कोप का त्याग ही चारित्र है व्याधि को दूर करने के उपायों में आदर करने वाले तथा व्याधि और वेदना से द्वेष करने वाले का चारित्र नष्ट होता है। अत: तुम्हें चारित्र के विघ्नों को जीतना चाहिये। हे क्षपक! तुम सब उपसर्गों और परीषहों को मन वचन काय से जीतो। उपसर्ग और परीषहों के जीतने में जो दु:ख होता है उससे न डरना मन से जीतना है। यह डरपोक है अत: दया करके उपसर्ग परीषह उसे दु:ख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है। द्रव्यादि सहकारी कारणों के रहने पर असातावेदनीय कर्म उदय में आता है और उसकी शक्ति को रोकना शक्य नहीं होता तब वह कष्ट देता ही है। धैर्य रूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना, मन से जीतना है। मैं थक गया हूँ मेरी इस अति कष्टकर और दु:सह वेदना रूप अवस्था को देखो, मैं दु:ख में जल रहा हूँ, कष्ट ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनों का उच्चारण न करना। मैंने पूर्व में अनेक बार भूख आदि परीषहों और उपसर्गों को सहा है। चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नहीं है। केवल यह बेचारा धैर्य खोकर रोता है ऐसी निंदा करते हैं। ये मुझे सन्मार्ग से डिगाने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार के उदार वचन बोलना, वचन से जीतना है। आँखों में और मुख पर दीनता का भाव न होना, मुख पर प्रसन्नता का न रहना, विचलित न होना, काय से जीतना है। इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् रूप से जीतने पर मरते समय तुम रत्नत्रय रूप से परिणत हो सकोगे। जिस चित्त उपसर्ग और परीषह से व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता।[1]

स्वाभिमानी संयमी श्रमण का मर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कायरता-विपत्तियों से घबड़ाना, दीनता-कृपणता करना कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है। एक अपने जीवन के लिए युद्धभूमि से भागकर कौन अपने पुत्र-पौत्र आदि के लिए अपवाद का कारण बनेगा और अपने परिवार को लांछन लगायेगा। उसी प्रकार हे क्षपक!

---

(1) भ. आ. 1496-1501 (2) भ. आ. 1502-1504 (3) भ. आ. वि. 69 (4) भ. आ. 1505-1507

अपने जीवन के लिए परीषह आदि के आने पर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और संघ को लोकापवाद का पात्र मत बनाओ और अपने गण पर लांछन मत लगाओ। युद्ध में शूर वीर पुरुष जोरदार प्रहार से पीड़ित होने पर भी शत्रु के सामने से अपना मुख नहीं मोड़ते और मुख पर भौं टेड़ी किये हुए ही मरते हैं। उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आने पर भी कायर नहीं होते। तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे।[2]

यदि संसार को बढ़ाने वाली अशुभ लेश्या से युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुख की लालसा से तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं तो जो क्षपक साधु संसार के सब दु:खों का क्षय करना चाहता है और चारों गतियों के तीव्र दु:खों का स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा। भारी रोग में, दुर्भिक्ष में, भयानक वन में, अत्यन्त प्रगाढ़ भय में तथा रोगों से ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमान को नहीं छोड़ते हैं। तब कुल गण और संघ के यश सम्पादन का अहंकार करने वाली लोक पूजित साधु स्वाभिमान त्याग कर साधुजन के लिये लज्जा के योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या? कभी नहीं करेंगे। जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुष को धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं। सज्जन पुरुष महती विपत्तियों में भी सुमेरु की तरह अकम्प, सागर की तरह गम्भीर और धैर्यशील होते हैं।[3] जो तुम्हारी सहायता के लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्ट का इलाज करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते। अमृत के समान जिन वचन तुम्हारे कानों में जाता है। उसे सुनते हुए संघ के मध्य में तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है। नरकगति, तिर्यञ्चगति में और मनुष्यपर्याय तथा देवपर्याय में रहते हुये तुमने जो दु:ख-सुख भोगा, उसमें मन लगाकर उसका विचार करो।[1]

जैसे कोई कर्जदार साहूकार ने ऋण लेकर स्वयं उसका उपयोग करता है और ऋण चुकाने का समय आने पर उतना ही द्रव्य वापिस देते हैं तो उसे दु:ख नहीं होता। उसी प्रकार पूर्व में बांधें हुए पापकर्म का फल भोगने वाले ज्ञानी को दु:ख कैसा? अत: पूर्व में बाँधे गये कर्म का उदय- काल आने पर कौन ज्ञानी दु:खी होता है? यह दुख मेरे पूर्व में किये गये कर्मों का ही फल है ऐसा जानकर दुख को ऋण मुक्ति के समान देखो। दु:खी मत होओ। ये मेरे पूर्वकृत कर्मों का फल है। इसमें किसी दूसरे का दोष नहीं हैं। अत: इसे अपना ही प्रयोग जानकर दु:खी मत होओ। हे क्षपक! यदि यह दु:ख दूसरों को पहिले कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दु:ख करना युक्त था।[2]

---

(2) भ. आ. 1508-1509 (1) भ. आ. वि. 1510-1511

व्रत भंग का फल–अरहंत, सिद्ध, केवली, उस स्थान के वासी देवता और सर्व संघ को साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्याग को तोड़ने से मरण श्रेष्ठ हैं। जैसे राजा को साक्षी बनाकर किये गये कार्य में विसंवाद करने वाला पुरुष राजा की अवज्ञा कर दोषी होता है। वैसे ही अरहंत आदि पंचपरमेष्ठी की साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्याग को तोड़ने वाला मुनि अरहंत आदि को भी प्रमाण न मानने से उनकी अवज्ञा करने का दोषी होता है। यदि हे क्षपक! तुम अरंहत आदि को प्रमाण मानते हो तो तुम्हें उनकी साक्षीपूर्वक किये गये त्याग को भंग नहीं करना चाहिये।[3]

मोक्ष के अभिलाषी संयमी का मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहंत आदि को साक्षी करके किये गये त्याग का भंग करना श्रेष्ठ नहीं है। मरण को प्राप्त होने पर तो एक भव का ही विनाश होता है, आगे के भवों का विनाश नहीं होता। किन्तु व्रत का भंग बहुत से भवों में विनाशकारी होता है।[4]

आहार हिंसादि सब दोषों का कारण एवं उसके त्याग का उपदेश– धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्म श्रद्धा को भी आहार के पीछे छोड़ देता है और गले में फँसी मछली की तरह अनर्थ करता है। मानी, कुलीन और प्रख्यात कीर्ति वाला भी आहार के लिए अभक्ष्य का भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है।[1]

मनुष्य के जो दोष इसलोक और परलोक में दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहार की लम्पटता के कारण ही करता है।[2]

हे क्षपक!पूर्व जन्मों में आहार के ही लिए पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि संसार में प्रविष्ट हुए हो। अब क्या पुनः अनंत संसार में भ्रमण करने की इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती।[3]

जैसे ईंधन से आग की और हजारों नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहार से तृप्त नहीं हो सकता।[4]

हे क्षपक! अतीत काल में तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्य के भेद से चार प्रकार का आहार करके सब पुद्‌गलों को बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई। अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत हैं अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है। जैसे समुद्र को पीकर जो तृप्त नहीं

---

(2) भ. आ. 1518-1522 (3) भ. आ. 1525-1527, 1529-1531 (1) भ. आ. 1554-1556
(2) भ. आ. 1621-1625

हुआ वह ओस को चाटने से तृप्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलों को खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजन से कैसे तृप्त हो सकते हो। जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हारी उत्सुकता कैसी? जो तुम अनेक वार भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्य कारी है। आहार में बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वा के अग्र भाग में रखना मात्र ही सुख है। किन्तु इच्छित आहार की लिप्सा से जो दुःख होता है वह दुःख ही बहुत है।[5]

कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़े से सुख के लिए बहुत सुख से वंचित होना चाहेगा अर्थात् इस अंतिम अवस्था में आहार में आसक्त होने से तुम बहुत सुख से वंचित हो जाओगे। मुनि संक्लेश परिणाम करने से स्वर्ग और मोक्ष के सुख से वंचित हो जाता है–उसे स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[1]

शहद से लिप्त तलवार और विष मिश्रित अन्न तो पुरुष का एक भव में ही अनर्थ करते हैं। किन्तु मुनि का अयोग्य आहार का सेवन सैकड़ों भवों में अनर्थकारी होता है।[2]

शरीर से ममत्व त्याग का उपदेश–यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख, भय और क्लेश को करने वाली ममता शरीर में मत कर अर्थात् शरीर से ममत्व को त्याग, वही सब दुःखों का मूल है। अतः यह शरीर रूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीर से ममत्व मत करो। तथा कर्म फल की उपेक्षा करते हुए दुःख को इस प्रकार सहो मानो दुःख है ही नहीं।[3]

कवच का महत्त्व–इस प्रकार उपदेश द्वारा समझाने पर वह क्षपक पूर्व में हुए संक्लेश रूप परिणामों से अपने को हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीर में नहीं है किन्तु किसी दूसरे के शरीर में है।[4]

महान ऐश्वर्यशाली राजा आदि को उस क्षपक के पास लाकर भी उस अभिमानी को मानदान देकर उसका कवच (रक्षा का उपाय) करना चाहिये। उन्हें देख वह विचारता है कि मेरी सहनशीलता को देखने के लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं। इनके सामने भले ही मेरे प्राण जाये तो चले जाये। तथापि मैं अपनी मनस्विता को नहीं छोड़ूँगा। इस प्रकार वह मानप्रेमी

(3) भ. आ. 1628-1630 (4) भ. आ. 1634-1635 (1) भ. आ. 1640-1641 (2) भ. आ. 1643 (3) भ. आ. 1646-1647 (4) भ. आ. 1649

दु:ख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता।[5]

जैसे अभेद्य कवच के द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमि में शत्रुओं के वश में नहीं आता तथा शत्रु पर प्रहार करने में समर्थ होता है और शत्रुओं को जीत लेता है। उसी प्रकार कवच से सुरक्षित क्षपक परीषह आदि के वश में नहीं आता तथा ध्यान करने में समर्थ होता है और उन परीषह रूपी शत्रुओं को जीत लेता है।[1]

तत्काल उपस्थित हुई परीषहों को सम्यक् रूप से सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करने वालों में अप्रतिबद्ध होता है। अर्थात् ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा संकल्प नहीं करता तथा सर्वत्र जीवन मरण आदि समभाव को रागद्वेष से रहितता को प्राप्त होता है। द्रव्य और पर्याय के समस्त भेदों में नित्य ममता दोष का त्याग स्नेहरहित, दोष रहित और मोह रहित होकर सर्वत्र समभाव को प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायों में ये मेरे सुख के साधन है इस प्रकार का ममत्व भाव नहीं रखता। किन्तु सब में समभाव रखता है। न किसी से प्रीति करता है और न किसी से द्वेष करता है। कवच से उपकृत हुआ क्षपक इष्ट वस्तु के संयोग में रति तथा उसके वियोग में अरति और दीनता नहीं करता है।[2]

36. समता (समभाव) अधिकार

समता–जीवन, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख, दु:ख आदि में रागद्वेष न करना समता है।[3]

कवच से उपगृहीत होने से क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध में, इसलोक और परलोक में, जीवन और मरण में, मान और अपमान में सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्प से मुक्त और रागद्वेष से रहित होता है, क्योंकि क्षपक के रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक्ध्यान और समाधि मरण को नष्ट कर देते है।[4]

निर्यापकाचार्य राग-द्वेष से उपेक्षा का उपदेश जन्म-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बंधु-शत्रु, सुख-दु:ख इत्यादि में समता रखने की विधिपरक उपदेश देते हैं कि समता ही सामायिक चारित्र है, इसके बिना मुनिपना व्यर्थ हैं इत्यादि उपदेश देते हैं।

पिच्छि आदि का त्याग–सम्पूर्ण रत्नत्रय में आरूढ़ हुआ क्षपक वसति, तृणादि रूप संस्तर,

---

(5) भ. आ. 1652-1655 (1) भ. आ. 1659 (2) भ. आ. 1661 (3) भ. आ. 1665, 1672
(4) भ. आ. 1673 (5) भ. आ. 1674

पानक, पिच्छि, शरीर तथा वैय्यावृत्य करने वालों का भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है।[5]

37. ध्यान अधिकार

ध्यान—एक विषय में चित्त के निरोध को ध्यान कहते है।[1]

दर्शन अर्थात् तत्त्व श्रद्धान, तत्त्व ज्ञान और चारित्र अर्थात् वीतरागता, तप अर्थात् भोजन का त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्ति न छिपाना तथा समाधियोग अर्थात् चित्त की एकाग्रता इन सबको मन वचन काय से प्राप्त करके क्षपक पूर्व के दर्शन आदि से विशिष्ट दर्शन आदि में पग धरता है।[2]

जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति, रति तथा मोह का मंथन करता है वह सदा ध्यान में लीन रहता है। धर्मध्यान चार प्रकार का हैं और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकार हैं ये ही ध्यान कष्ट को हरने वाले हैं। चतुर्गति परावर्तन रूप संसार में जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्ल ध्यानों को ध्याता है। वह क्षपक परीषहों से पीड़ित होने पर भी आर्त्त और रौद्रध्यान नहीं करता क्योंकि आर्त्त और रौद्रध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् संक्लेशरहित परिणामों से, विशुद्ध अर्थात् कर्मों की निर्जीर्ण करने की शक्तिसहित भी समीचीन ध्यान को नष्ट कर देते हैं।[3]

इन्द्रिय और कषायों से सम्बन्ध को रोकने, अत्यधिक निर्जरा को चाहने, चित्त को वश में करने और रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग को नष्ट न होने देने के लिये, क्षपक शुभ ध्यान ही करता है।[4]

क्षपक बाह्य द्रव्य को देखने की ओर से आँखों को किंचित् हटाकर अर्थात् नाक के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसन्धान करे अर्थात् दृष्टि को नाक के अग्रभाव में स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयकज्ञान में मन को लगाकर श्रुत से जाने हुए विषयों का स्मरण करते हुए आत्मा में लीन होओ, यह ध्यान संसार से छूटने के लिये किया जाता है।[5]

क्षपक विषयों से, इन्द्रियों को और मन को हटाकर वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए वीर्य परिणाम को स्थापित करके आत्मा में मन को लगाता है अर्थात् वीर्य परिणाम से अपनी शुद्ध आत्मा में मन को धारण करता है।[6]

(1) भ. आ. 1676, 1677 (2) भ. आ. 1678-1680 (3) भ. आ. वि. 69 (4) भ. आ. 1683-84 (5) भ. आ. 1688

एक विषय में मन को रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इन चार प्रकार के धर्मध्यान को ध्याता है।[7]

धर्म ध्यान–आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रूचि में धर्मध्यान के लक्षण हैं।[1]

धर्मध्यान के आलम्बन–वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षायें धर्मध्यान के आलम्बन हैं।[2]

अनुप्रेक्षायें–अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ये बारह अनुप्रक्षायें हैं। इनका चिन्तन करना चाहिये।[3]

अनित्य भावना–ऐश्वर्य, प्रभुता आज्ञा, धन और आरोग्य आदि सूर्य की परिधि की तरह अनित्य है। सन्ध्याकाल की तरह इन्द्रियों की सामग्री तथा मध्याह्न काल की तरह लोक में मनुष्यों का यौवन अनवस्थित है। इस प्रकार का विचार करना अनित्य भावना है।[4]

अशरण भावना–जैसे कोई सिंह किसी मृग को पकड़ ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता या तिमिंगल नामक महामत्स्य किसी मच्छ को पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसको नहीं छुड़ा सकता उसी प्रकार कर्म का उदय आने पर जीव का कोई शरण नहीं होता। इस प्रकार का विचार करना अशरण भावना है।[5]

संसार में शरण भूत पदार्थ–रत्नत्रय को धर्म कहते हैं। वह धर्म परलोक में जीव का गुणकारक सहायक होता है क्योंकि उससे सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है। कहा भी है–वह धर्म हमारी रक्षा करें जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोक के भय, शोक और विषाद से रहित विषय सुख को देकर देवेन्द्रों और राजेन्द्रों से विशिष्ट रूप से पूजित तीन लोकों का स्वामी तीर्थंकर पद प्रदान करता हैं तथा अन्त में मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियवियोग, जरा, व्याधि और शोक से रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्ष में ले जाता है।[6]

एकत्व भावना–जैसे परमाणु अन्य परमाणु या स्कंध आदि के संबंध बिना तीन लोक में सर्वत्र अकेला घूमता है वैसे तीन लोक में एकाकी परिभ्रमण करते हुए इस जीव के कोई नहीं है न अपना है और न पराया हैं। इस प्रकार का विचार करना एकत्व भावना है।[7]

---

(1) भ. आ. वि. 69 (2) भ. आ. 1692 (3) भ. आ. 1693-1695 (4) भ. आ. 1700 (5) भ. आ. 1701 (6) भ. आ. 1702 (7) भ. आ. 1703

अन्यत्व भावना—शरीर और आत्मा का स्वरूप सर्वथा भिन्न-भिन्न है इस शरीर और आत्मा की भिन्न अवस्था का चिन्तन करना ही अन्यत्व भावना है।

लोक भावना—तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन करना लोक भावना है।

अशुचि भावना—इस जगत में पुरूषों के काम, भोग, धन और शरीर यें सब ही अशुभ-अशुचि हैं, इस प्रकार का चिन्तन करना अशुचि भावना है।

आस्रव भावना—यह जन्म मरण रूपी समुद्र विविध दोष रूपी लहरों से युक्त है तथा दुःखरूपी जलचर जीवों से भरा है। इस समुद्र में परिभ्रमण का कारण आस्रव है। वह शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का हैं।[1]

शुभाशुभ आस्रव का वर्णन—''अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग, पुण्य कर्म के आस्रव के द्वार है और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोग से विपरीत परिणाम पाप कर्म के आस्रव के द्वार हैं।

शुद्ध प्रयोग का स्वरूप कहते है—उसके दो भेद हैं—एक यति सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग। यति का शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवों का घात नहीं करूँगा। झूठ नहीं बोलूँगा। चोरी नहीं करूँगा। भोगों को नहीं भोगूँगा। धन का सेवन नहीं करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध, मान, माया, लोभ से आरम्भ और परिग्रह से सम्बन्ध नहीं रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिर पर मुकुटमाला धारण करके और हाथ में धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता। उसी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग कर दोषों को वहन करूँ तो शोभा नहीं देता। महान ऋषियों का लिंग स्वीकार करके और स्नान आदि के बिना शरीर धारण करके, व्रतों के भंग का विचार न करते हुए काम सेवन आदि का संसर्ग मैं कैसे कर सकता हूँ। मैं धैर्य खो, दीन बनकर अनार्यो की तरह आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ। शरीर में विकार युक्त होकर घूमनें पर साधु होकर सिर मुड़ाना व्यर्थ है इत्यादि प्रकार से शुभ कार्य की चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, संघ और जिनशासन में भक्ति, वैराग्य, गुणों में अनुराग, विनययुक्त प्रवृत्ति, संयम, अप्रमादीपना, परिणामों में कोमलता, क्षमा, आर्जव, संतोष, आहारादि संज्ञा, मिथ्यात्व आदि शल्य और ऋद्धि आदि के मद को जीतना, उपसर्ग और परीपह को जीतना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसंयम, दस प्रकार का धर्मध्यान, जिनपूजा, जिनपूजा का उपदेश, निःशंकित आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पाँचसमिति,

---

(1) भ. आ. 1704 (2) भ. आ. 1705 (3) भ. आ. 1710 (4) भ. आ. वि. 1715-1717
(5) भ. आ. 1740 (6) भ. आ. वि. 1747 (7) म. क. 1837

तीन गुप्ति इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं।

गृहस्थों का शुद्ध प्रयोग–ग्रहण किये हुए व्रतों के धारण और पालन की इच्छा, एक क्षण के लिये भी व्रतभंग को इष्ट न मानना, निरन्तर यतियों को दान देना, श्रद्धा आदि विधिपूर्वक अन्न आदि देना, भोगों को भोगकर भी थकान (आसक्ति) दूर करने के लिये अपनी भोगासक्ति की निन्दा करना, सदा घर छोड़ने की भावना करना, धर्म का श्रवण करने को मिले तो मन का अतितुष्ट होना, भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्तवन और प्रणाम करना, उनकी पूजा करना, दूसरों को धर्म में स्थिर करना, धर्म का बढ़ाना, साधर्मी वात्सल्य, जिनेन्द्रदेव के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का अभ्यास करना। जिनशासन की प्रभावना करना आदि श्रावकों का शुद्ध प्रयोग है''।[1]

संवर–जिस जीव परिणाम से पुद्गलों के नवीन कर्म पर्यायें अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रुकते हैं उसे संवर कहते हैं।

संवर का उपाय–जैसे लकड़ी के पटिये से नाव में जल का आना रोका जाता है, वैसे ही अप्रमादरूपी पटिये से अशुभ पणिामों रूपी आस्रव द्वार को रोका जाता है। जैसे शत्रु की सेना परिखा आदि से सुरक्षित नगर को नष्ट नहीं कर सकती वैसे ही कर्म रूपी शत्रु की सेना गुप्तिरूपी परिखा आदि से युक्त संयमरूपी नगर को नष्ट नहीं कर सकती। प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ़ नाव पर आरूढ़ होकर छह काय के जीवों के घात से होने वाले पापरूपी मगरमच्छों से अछूता रहकर संसार समुद्र को पार करता है। जैसे सुरक्षित नगर को शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वार पर खड़े द्वारपाल की तरह जिसके हृदय में वस्तु तत्त्वों की स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते।[2]

निर्जरा भावना–जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तप के बिना कर्मों के संवरमात्र से कर्मों का क्षय नहीं होता। अतः निर्जरा के लिये तप करना चाहिये। पूर्व में बद्ध कर्मों के क्रम से क्षय को निर्जरा कहते है।[3]

सभी जीव जो तप करते हैं या तप नहीं करते, अथवा सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्यादृष्टि हो उन सब जीवों के उदयावली में प्रवेश करके अपना फल देने वाले कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवों के सदा हुआ करती है क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते है। इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्म की होती है यह सूचित होता है।

(1) भ. आ. 1815

शंका—सब कर्मों की निर्जरा क्यों नहीं होती?

समाधान—सब कर्मों की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नहीं मिलते, अतः कर्म एक साथ उदय में नहीं आते। अतः जिस कर्म का उदय होता है उसी की निर्जरा होती है। शेष की निर्जरा नहीं होती। किन्तु तप करने से सब कर्मों की निर्जरा होती है''।[1]

जिस कर्म का फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता। अतः कर्म फल देकर जाता है। इससे सविपाक निर्जरा का स्वरूप कहा। सविपाक निर्जरा उन्हीं कर्मों की होती है जो अपना फल दे चुकते हैं किन्तु तप की अग्नि में जलकर ऐसे कर्मों का भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है। इससे जो लोग ऐसा मानते है कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है।[2]

जैसे आग महान भी तृणराशि को जलाकर खाक कर देती है। उसी प्रकार तप रूपी आग महान भी कर्मरूपी तृणों के ढ़ेर को जलाकर नष्ट कर देती है।[3]

अतः जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथ पर सवार है और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुये है वह संयमरूपी योद्धा संयम रूपी रणभूमि में ध्यान आदि तपोमय बाणों के द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओं की सेना को पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करता है।[4]

धर्म भावना—धर्म से मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है। मनुष्य धर्म को सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं। कहा भी है—धर्म की श्रद्धा करने पर, धर्म को सुनने पर धर्म को जानने और धर्म का स्मरण करने पर फल की प्राप्ति होती है तथा धर्म से मन को शांति मिलती है। मनुष्यलोक और देवलोक में जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्त में मोक्षसुख को भी लाता है। जिन्होंने जिन भगवान के द्वारा कहे गये और सब दुःखों का नाश करने वाले जिनधर्म को दृढ़ धैर्य के साथ निर्मल मन से और बिना किसी प्रकार की अपेक्षा के धारण किया वे पुण्यशाली है। जो विषयरुपी वन में इन्द्रियरूपी घोड़ों के द्वारा बलपूर्वक ले जाकर चिरकाल तक कुमार्ग में विहार करते हैं और एक दिन उस इन्द्रिय रूपी घोड़े से उतरकर जिन भगवान के द्वारा कहे मोक्षमार्ग में चलने लगते हैं वे धन्य है।[5]

---

(1) भ. आ. वि. 1828 (2) भ. आ. 1833-1836 (3) भ. आ. वि. 1840

जो राग और द्वेषपूर्वक संसार के भोगों मे फँसें है, स्वादरहित वीतराग धर्म में उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है- कहा भी है जिनेन्द्र देव ने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या, सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी प्रशस्त भाव कहे हैं इस जगत् में उन्हें धर्म के द्वारा प्राप्त करना शक्य है। अत: तुम अपने हित के लिए धर्माचरण करो।[1]

संसार के दु:खों को करने में समर्थ कर्मों के आने के द्वार को रोकने वाला चारित्र जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है। यहाँ धर्म शब्द से चारित्र कहा है, इससे यह प्रकट होता है। जैसे-जैसे मनुष्य में वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्त का निग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है।[2]

बोधि दुर्लभ भावना–संसार में भटकते हुए कर्मलिप्त जीव के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्चरणमयी धर्म और बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है। जैसे लवणसमुद्र के पूर्व भाग में जुआ और पश्चिम भाग में उसकी लकड़ी डाल देने पर दोनों का संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसार में मनुष्य भव का पाना दुर्लभ है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामों की बहुतायत के कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है तथा मनुष्य रहित लोक अति विशाल है इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ हैं क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रों तक जो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल। शेष लोकाकाश भी महान है तथा जीवों की योनियाँ वहुत है। इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है। जीव के मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं है।[3]

धर्म के ज्ञाता मनुष्यों से रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, वर्वर, पारसीक और सिंहल आदि देश हैं। धर्मज्ञ जनों से बसा हुआ देश मिलने पर भी व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं और इसका कारण यह है कि जीवों के निरन्तर नीच गोत्र का बन्ध हुआ करता है।[4]

मनुष्य भव आदि के प्राप्त होने पर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दीक्षा की और अभिमुख बुद्धि का होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवों के संयम को घातने वाला कर्म प्रवल होता है तथा यह

(1) भ. आ. 1843 (2) भ. आ. वि. 1844 (3) भ. आ. वि. 1845 (4) भ. आ. वि. 1850
(5) भ. आ. 1852-1855

लोक मिथ्यामतों से भरा है। अतः बहुत लोग जिस धर्म का आचरण करते हैं उसे ही प्रमाण मानकर जो कुछ मन में आता है, करते है। रागद्वेप के बलवान होने से ज्ञान और श्रद्धान से युक्त भी मनुष्य सन्मार्ग पर नहीं चलता।[1]

इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षा के अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होने पर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरु के शिखर पर चढ़कर भी उससे गिरता है। जैसे अन्धकार में समुद्र के मध्य में गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि, संसार में भ्रमण करने वाली जीव को प्राप्त होना दुर्लभ है। जो जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट धर्म में प्रबद्ध होते हैं वे धन्य हैं तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धि को प्राप्त करके भावपूर्वक धर्म को अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं[2]

इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यान का आलम्बन होती है। ध्यान करने वाला साधु ध्यान में निमित्त आलम्बनों का आश्रय लेने से ध्यान से च्युत नहीं होता। जो जिस वस्तु के स्वरूप में अपने मन को लगाता है वह उस वस्तु के यथार्थस्वरूप से च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भूलता नहीं है। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यान के आलम्बन हैं। अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यान के अनुकूल आलम्बन है अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है। ध्यान करने के इच्छुक क्षपक के लिये यह लोक आलम्बनों से भरा हुआ है। वह मन को जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है।[3]

ध्यान माहात्मय—एक अन्तर्मुहुर्त मात्र या एक दिन-रात मात्र ध्यान रूप संवर से युक्त मुनि, कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवर से रहित तथा संक्लेश सहित चारित्र का पालन करने वाले साधु से श्रेष्ठ है।[4]

जैसे युद्ध भूमि में कवच होता है वैसे ही कषायों से युद्ध करने में ध्यान कवच के समान है। इससे कहा है कि ध्यान कषाय से रक्षा करता है। ध्यान के अभाव में दोष कहते हैं—जैसे युद्ध में विना कवच के बिना योद्धा की जो स्थिति है वही स्थिति ध्यान के बिना क्षपक की होती है। वह भी उसी की तरह मारा जाता है।[5]

"जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुष के बल को दृढ़ करता है वैसे ही ध्यान क्षपक की शक्ति को

---

(1) भ. आ. वि. 1856 (2) भ. आ. 1857-1858 (3) भ. आ. 1860-1863 (4) भ. आ. वि. 1863

दृढ़ करता है। जैसे अपुष्ट मल्ल अखाड़े में हार जाता है वैसे ही ध्यान से रहित क्षपक कषायों से हार जाता है।

जैसे हिंसक जन्तुओं से भय होने पर उनसे रक्षा/बचाव करती है वैसे ही ध्यान, दुःखरूपी हिंसक जन्तुओं से रक्षा करता है। तथा जैसे संकट में मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी संकट में ध्यान सहायक होता है।''[1]

38. लेश्या अधिकार

लेश्या—कषाय से अनुरंजित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[2]

समताभाव को प्राप्त हुआ क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणी पर अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है।[3]

जैसे पुरुष के शरीर में कृष्ण आदि द्रव्यलेश्या—शरीर का रंग काला गोरा होता है। वैसे ही अभ्यन्तर में कृष्ण आदि भावलेश्या होती हैं क्षपक कृष्ण, नील, कपोत इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं को त्यागकर वैराग्य भावना से युक्त होता है और संसार से अत्यन्त भयभीत रहता है तथा पीत, पद्म और शुक्ल इन तीन प्रशस्त लेश्याओं को क्रम से स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभाव को धारण करता है।[4]

लेश्याओं की विशुद्धि का उपक्रम—इन लेश्याओं की विशुद्धि का उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहों का सर्वथा त्याग होता है अर्थात् परिग्रह के त्याग से लेश्या में विशुद्धि आती है। परिणामों की विशुद्धि होने से लेश्या की विशुद्धि होती है और जिसकी कषाय मन्द उसके परिणामों में विशुद्धि होती है। जो बाह्य परिग्रह का त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है। जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रह रूप पाप को स्वीकार करता है। जैसे ईंधन से आग बढ़ती है और ईंधन के अभाव में से बुझ जाती है। वैसे ही परिग्रह से कषाय बढ़ती है और परिग्रह के अभाव में मंद हो जाती है। जैसे जल में पत्थर फेंकने से नीचे बैठा हुआ कीचड़ ऊपर आ जाता है। वैसे ही परिग्रह से जीव की दबी हुई कषाय उदय में आ जाती है।[5]

---

(1) भ. आ. वि. 1864 (2) भ. आ. 1865-1867 (3) भ. आ. 1868-1870 (4) भ. आ. 1885 (5) भ. आ. 1887

अंतरंग में कषाय की मन्दता होने पर नियम से बाह्य परिग्रह का त्याग होता है। अभ्यन्तर में मलिनता होने पर जीव बाह्य परिग्रह को ग्रहण करता है। अभ्यन्तर में विशुद्धि होने पर बाह्य विशुद्धि नियम से होती है। अभ्यन्तर में दोष होने से ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है। जैसे बाहर में तुष (छिलका) रहते हुए चावल की अभ्यन्तर शुद्धि संभव नहीं है। वैसे ही परिग्रही जीव के लेश्या की विशुद्धि संभव नहीं है।[1]

39. फलाधिकार

फल—आराधना के द्वारा प्राप्त साध्य को फल कहते हैं।[2]

आराधना का फल—जो क्षपक शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश रूप से परिणत होकर मरण करता है वह नियम से उत्कृष्ट आराधक होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञान की आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदंतर अरहंत होता हैं।

शुक्ल लेश्या के शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्म लेश्या के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अंश रूप से परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक, मध्यम आराधक होता है।

तेजो लेश्या के अंशरूप से परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है।

जो क्षपक जिस लेश्यारूप से परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्या वाले स्वर्ग में उसी लेश्या वाला ही देव होता है।[3]

जो पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या को भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्था को प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त होकर आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करता है। वह समस्त कर्मलेप के चले जाने से विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशों से छूट जाता है।

वह भगवान तीनों लोकों में सारभूत तथा चार गतिरूप संसार के दु:खों का नाश करने वाली

---

(1) भ. आ. 1889, 1891 (2) भ. आ. वि. 69 (3) भ. आ. 1900 (4) भ. आ. 1901-1903
(5) भ. आ. 1904-1908

आराधना को प्राप्त करता है जो उस मोक्ष का प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधना रूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्ष खरीदा जा सकता है।

इस प्रकार कोई–कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्र की विधि के द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय करते हैं।

केवलज्ञान के द्वारा जानने के योग्य सम्पूर्ण लोक को द्रव्य पर्यायों के भेदों के साथ एकाग्रमन से जानते हुए आराधक अपना शरीर छोड़ते हैं।

सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रज से अर्थात् शेष चार अघाति कर्मों से छूटकर सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्ट आराधना का पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशों से छूट जाते हैं और लोक के शिखर पर विराजमान हो जाते हैं।[1]

किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहते हैं वे मिथ्यात्व को नष्ट करके तथा कषायों का और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदों का मंथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के द्वारा सम्यक् रुप से संवर करके समस्त परिग्रह से रहित होकर धीरतापूर्वक, मन में दीनता का भाव नहीं लाते। मोहरहित होकर सुख और दुःख में समभाव रखते हैं। मन, वचन, काय को समाहित करके चारित्र में सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यान में उपयोग लगाते हैं।[2]

इस प्रकार मध्यम आराधना का पालन करके शरीर त्यागकर विशुद्ध लेश्या के धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं।[3] वे मध्यम आराधना के पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में उत्कृष्ट होते हैं अर्थात् कल्पोपन्न देवों में उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रय के आराधकों से उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती हैं, वे ईर्यापथ आस्रव के धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित काय की क्रिया से होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता हैं। वे मरकर लवसप्तम अर्थात् ग्रैवेयक या अनुदिशों में अहमिंद्र देव होते हैं।[4]

कल्पवासी देव अपनी देवांगनाओं के साथ जिस सुख को भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्र देव भोगते हैं।

श्रुतभक्ति से विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योग से शुद्ध धीर आराधक

(1) भ. आ. 1909–1911 (2) भ. आ. वि. 69 (3) भ. आ. 1912–1916

लौकान्तिक देव होते हैं।

जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्र परिणामी क्षपक आगामी काल में प्राप्त करते हैं। तेजोलेश्या से युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गों में देव होते हैं, नीचे के देव नहीं होते अर्थात् भवनत्रिक में जन्म नहीं लेते। अधिक कहने से क्या? जो समस्त लोक का सारभूत है उन सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। स्वर्गों के उत्कृष्ट भोगों को भोगकर स्वर्ग से च्युत होने पर मनुष्य भव में जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उसे त्यागकर जिन भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म का निरतिचार (मुनि धर्म का) पालन करते हैं। वे शास्त्रों का अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, संवेग और शक्ति से युक्त होते हैं। परीषहों को जीतते हैं और उपसर्गों को निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं होते। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके ध्यान में मग्न होकर संक्लेशयुक्त अशुभ लेश्याओं का विनाश करते हैं। शुक्ललेश्या से सम्पन्न होकर शुक्लध्यान के द्वारा संसार का क्षय करते हैं और कर्मों के कवच से मुक्त हो, सब दुःखों को दूर करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं।[1]

विराधक के लक्षण—इस प्रकार संस्तर पर आरूढ़ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र को निर्मूल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मों की गुरुता होने से आर्तरौद्र ध्यान पूर्वक रत्नत्रय रूप आराधना से गिर जाता है। जो क्षपक साधु मरते समय आर्तरौद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीर को छोड़ता है वह सुगति प्राप्त नहीं करता। यदि अपनी आत्मा की सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तर पर आरूढ़ हों किन्तु संक्लेश के कारण मरते समय सन्मार्ग से गिर जाते हैं, तो जो नित्य अवसन्न, नित्य, पार्श्वस्थ, सदा कुशील, संसक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है?[2]

विराधक के हेतु—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप परिणामों के जो शंका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं, कषायों के वशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणों का और गुणीजनों का वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्य की उनमें प्रचुरता होती हैं।[3]

वे सुखशील होते हैं, मुझे किसी से क्या, ऐसा मानकर वे संघ के सब कार्यों में अनादरभाव

---

(1) भ. आ. 1917-1923 (2) भ. आ. वि. 1924-1926 (3) भ. आ. 1927 (4) भ. आ. वि. 1928
(5) भ. आ. 1929, 1932

रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणों में उनका उत्साह नहीं होता। अपने और दूसरों के अशुभ परिणामों तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषाय को बढ़ाने वाला शास्त्र पापसूत्र है। निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुष के लक्षण बतलाने वाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रों का लक्षण बतलाने वाला शास्त्र, प्रहार करने की विद्या, चित्रकला, गन्धर्व (नाच-गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रों में उनका आदर होता है, उसी का वे अध्ययन करते हैं। इष्ट विषयों की आशा में लगे रहते हैं, तीन गारव में आसक्त होते हैं। विकथा आदि पन्द्रह प्रमादों में युक्त होते हैं।[1]

समिति, गुप्ति और शील तथा संयम के गुणों में भावना से रहित होते हैं। लौकिक कार्यों में संलग्न रहते हैं भावों की शुद्धि की ओर ध्यान नहीं देते। उनकी परिग्रह की तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। अज्ञान में डूबे रहते हैं। गृहस्थों के आरम्भ में फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में ममत्वभाव रखते हैं। परलोक की चिन्ता नहीं करते। इसी लोक सम्बन्धी कार्यों में लगे रहते हैं। स्वाध्याय आदि में उद्यम नहीं करते। उनकी मति संक्लेशमय होती है। सदा मूलगुणों और उत्तर गुणों में अतिचार लगाते हैं। इससे उनके चारित्र मोह का क्षयोपशम नहीं होता इस प्रकार दोषों को दूर न करने वाले वे मूढ़बुद्धि जब मरते हैं तो मायाचार के कारण अभागे (नीच) देव होते हैं। वे मुनि अवस्था में 'मुझे इससे क्या ऐसा' मानकर संघ के सब कार्यों में अनादर भाव रखने के कारण देवों की समिति से बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पों के अन्त में बसने वाले चाण्डाल जाति के देव होते हैं।[2]

जो साधु संघ के कार्यों में निरुत्साही होते हैं जो कहते हैं कि इस संघ की वैय्यावृत्ति आदि से मुझे क्या प्रयोजन है मैं कुछ भी काम नहीं करूँगा। वे गाने, बजाने आदि कार्य करने वाली नीच चाण्डाल जैसे देव होते हैं। जो साधु कंदर्प भाव (काम वासना) से दूषित मन, वचन वाले, दूसरों की वासना बढ़ाने वाले, हंसी मजाक करने वाले तथा कुचेष्टा करने वाले हैं, वे कंदर्प जाति के देव होते हैं।

जो किल्विष (तीर्थंकर, संघ, चैत्य, चैत्यालय की आसादना करने वाले साधर्मी से विपरीत रहने वाले, मायावी, चण्डाल) भाव वाले हैं वे क्षपक किल्वषिक जाति के नीचे देव होते हैं।

जो आभियोग्य क्रिया (मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि साधु पद के अयोग्य कार्यों, दास क्रिया में लगे रहते हैं)? भाव वाले हैं वे आभियोग्य (वाहन) जाति के देवों में जन्म लेते हैं।

---

(1) भ. आ. 1933-1939 (2) भ. आ. 1940-1943 (3) भ. आ. वि. 1945

जो सम्मोह भावना (मिथ्यामार्ग प्रचारक, सन्मार्ग विराधक, दुर्बुद्धि) वाले हैं वे साधु सम्मोह जाति के देव होते हैं।

जो आसुरी भावना (निदान वाले, रौद्र परिणामी, बैर बांधने वाले, संक्लिष्ट परिणामी, तीव्र कषायी) वाले हैं वे अंबावरीष जाति के देव होते हैं। इत्यादि देव दुर्गति से च्युत होकर भी चर्तुगति में भ्रमण कर अनंत संसारी होते हैं।[1]

इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रय को नष्ट करके असमाधि पूर्वक मरते हैं उनका वह मरण बालमरण होता हैं और उस बालमरण का फल पूर्व में कहा हैं। जो क्षपक सम्यक्त्व को नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिषी देव होते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित वे मूढ़देव स्वर्ग से च्युत होकर दुःख की वेदनारूपी लहरों से भरे संसार समुद्र में भ्रमण करते हैं।[2]

जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्या के साथ मरता है वह जिस लेश्या के साथ मरता है उसी लेश्या वाला होकर जन्म लेता है।[3]

40. विजहणा (शरीर त्याग) अधिकार

विजहणा–आराधक के शरीर त्याग को, विजहणा कह   हैं।[4]

क्षपक की समाधि (प्राणांत) हो जाने पर वैय्यावृत्य करने वाले मुनिगण जो कि धैर्यशाली हैं जिन्होंने अनेकों बार सल्लेखना को देखा एवं करवाया हैं, शारीरिक सामर्थ्य से युक्त हैं वे क्षपक के शरीर को ले जाकर उचित प्रासुक भूमि पर छोड़ आते हैं।[5]

इस प्रकार प्रकार नगर आदि के मध्य में या नगर से बाहर मरण को प्राप्त उस क्षपक के शरीर को वैय्यावृत्य करने वाले परिचारक मुनि जो धैर्यशील हैं, जिन्होंने अनेकों बार सल्लेखना को देखा है एवं करवाया है, जो शारीरिक सामर्थ्य युक्त हैं वे उस शव को स्वयं ही सावधानता पूर्वक हटा देते हैं। वर्षा ऋतु के चार मासों में एक स्थान पर वास प्रारंभ करते समय और ऋतु के प्रारम्भ में सब साधुओं को नियम से निषीधिका की प्रतिलेखना करनी चाहिए। मरण कण्डिका में कहा है उस निषीधिका की वंदना भी अवश्य करनी चाहिए।[6] यह साधुओं का स्थिति कल्प है। भगवती आराधना में उक्त विषय को विशेषार्थ में इस प्रकार से समझाया है।

---

(1) भ. आ. वि. 1946 (2) भ. आ. 1947-1952

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीर में भी निरीह होते हैं, वे मृत क्षपक के शरीर को हटाने का प्रयत्न क्यों करते हैं? ऐसी शंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्व में साधुओं के जो दस स्थिति कल्पों का कथन किया है उसमें एक मास और पज्जोसवण (पर्युषण) कल्प भी है। उसके अनुसार जब साधु वर्षायोग धारण करते हैं या ऋतु का प्रारंभ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है। जहाँ क्षपक के शरीर को स्थापित किया जाता है उस स्थान को, निषीधिका कहते हैं। इसलिये निषद्या का दर्शन साधुओं का आवश्यक कर्तव्य होने से मुमुक्षु साधु निषद्या के निर्माण के लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं।[1]

निषीधिका—निषीधिका एकान्त में होना चाहिए, जहाँ दूसरे लोक उसे न देख सकते हों। नगरादि से न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये, विस्तीर्ण होनी चाहिए, प्रासुक होनी चाहिए तथा अति दृढ़ होनी चाहिए, वह चीटियों से रहित होनी चाहिये, अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रों से रहित होनी चाहिए, प्रकाशवाली होनी चाहिये, समभूमि होनी चाहिये, गीली नहीं होनी चाहिये, जन्तु रहित होनी चाहिए, तिरछे छिद्र वाली नहीं होनी चाहिए तथा बाधारहित होनी चाहिये।[2]

निषीधिका की दिशा—तथा वह निषीधिका क्षपक के स्थान से पश्चिम-दक्षिण दिशा में या दक्षिण दिशा में या पश्चिम दिशा में हो तो उत्तम होती है।[3]

यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशा में हो तो सर्वसंघ को समाधि लाभ होता है। यदि दक्षिण दिशा में हो तो संघ को आहार लाभ सुलभ होता है यदि पश्चिम दिशा में हो तो संघ का विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणों का लाभ होता है।[4]

अपवाद दिशा—यदि उक्त दिशाओं में निषीधिका का निर्माण में बाधा हो तो क्रमशः पूर्व-दक्षिण में, पश्चिम-उत्तर में, पूरब में या उत्तर में या पूर्वोत्तर में होना चाहिये।[5]

किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशा में होने से 'मैं ऐसा हूँ, 'तुम ऐसे हो' इत्यादि रूप संघर्ष होता है। पश्चिमोत्तर दिशा में होने से कलह होता है। पूर्व दिशा में होने से संघ में भेद पड़ता है। उत्तर दिशा में होने से व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशा में होने से परस्पर में खींचातानी होती है। यह क्रम से उक्त दिशाओं में निषद्या बनाने का फल हैं।

---

(1) म. क 2035-2038 (2) भ. आ. 1956-1958 (3) भ. आ. 1959 (4) भ. आ. वि. 69
(5) म. क. 2044 (6) म. क. वि. 2045

निषद्या दिशा-नक्शा (चार्ट)

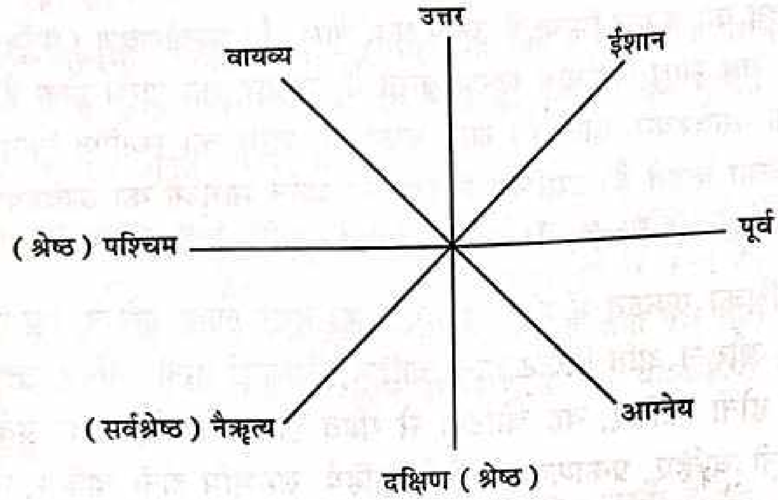

असमय में समाधि होने पर–क्षपक का जब मरण हो तो उसी वक्त शव को ले जाना चाहिए। असमय में मरण हो तो अंग छेदन या बंधन कर जागरण करना चाहिए।[1]

जागरण करने में निषिद्ध साधु–(1) जो भीरु हैं, (2) शैक्ष्य अध्ययनशील साधु, (3) रोगी साधु, (4) बाल साधु, (5) वृद्ध साधु, (6) उग्र तपस्वी (7) दुःखी, (8) पीड़ित, (9) अधीर, (10) आचार्य।

जागरण के योग्य साधु–(1) जो अपार धैर्यशाली है, (2) निद्राजयी हैं।''[2]

बंधन करने वाले साधु–जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकों का समाधि कार्य किया है, महाबलशाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे मुनि मृतक के हाथ, पैर या अंगूठे बाँधते या छेदते हैं।[3]

छेदन या बंधन क्यों? यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतक को उठाकर दौड़ सकता है, क्रीड़ा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त चंचल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है।[4]

---

(1) भ. आ. 1961 (2) भ. आ. वि. 1962-1963 (3) भ. आ. 1964 (4) भ. आ. 1965 (5) भ. आ. 1966 (6) भ. आ. 1967

विशेषार्थ–वर्तमान काल में हीन संहनन के कारण मुनि जनों को वन में रहने की आज्ञा नहीं है (इंद्रनंदी के अनुसार) अत: निर्यापकाचार्य क्षपक के शव को योग्य गृहस्थ श्रावकों को सौंप देते हैं। श्रावक गण गाजे बाजे के साथ पालकी (विमान) में प्रभावनापूर्वक क्षपक के शरीर को विराजमान कर शव यात्रा निकालते हैं और अंत में उचित स्थान पर अपने देश काल के अनुसार विधिपूर्वक उसका अग्नि संस्कार करते हैं।

शरीर अवयवों से फलादेश–

(1) जितने दिन तक क्षपक का शरीर पक्षियों द्वारा क्षत–विक्षत नहीं हुआ है उतने दिन तक उस देश, राज्य में नियम से सुख शांति रहती है।

(2) क्षपक का कलेवर जंगली पशु पक्षियों द्वारा जिस दिशा में खींच कर ले जाया गया हो तो उस दिशा में संघ का विहार करना उचित होता है।

(3) यदि पशु पक्षी क्षपक का मस्तिष्क या दांत पर्वत पर ले गये हैं तो समझना चाहिए कि क्षपक कर्ममलों से मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर चुका है।

(4) यदि क्षपक के मस्तिष्क को उच्च स्थान पर पक्षी आदि ले गये हैं तो क्षपक वैमानिक देव हुआ है।

(5) सम भूमि पर ले गये हैं तो ज्योतिषी या व्यंतर हुआ है।

(6) गर्त (गड्ढे) में ले गये हैं तो भवनवासी देव हुआ है।[1]

विशेष–पश्चात् तीन दिन तक निषद्या स्थल जाकर क्षपक के शरीर व शरीर के अवयवों को देखकर उनके फलों को जानना चाहिए। यद्यपि वर्तमान में अग्नि संस्कार होने के कारण उपरोक्त विधि संभव नहीं है फिर भी मुनिजन तीसरे दिन निषद्यावंदन हेतु जाते हैं और वहाँ निषद्यावंदन क्रिया करते हैं निषद्या क्रिया में भक्ति पाठ करते हैं। श्रावक गण सबसे पहले दूध या जल से शांति मंत्र पूर्वक तीन धारा देते हैं पश्चात् जल छिड़कते हैं, अस्थि चुनते हैं, उन्हें अस्थि कलश में स्थापित कर उसी स्थान पर गाढ़ देते हैं तथा क्षपक की स्मृति में चबूतरा या छतरी में उनकी चरण पादुका स्थापित कर उनकी दर्शन–पूजन वंदन करते हैं।

इस प्रकार इस भेद सहित आराधना का संक्षेप से कथन किया। इस आराधना में जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है।[2]

मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधना का वर्णन करने में समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधना को नहीं कह सकते अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधना का

---

(1) भ. आ. 1968 (2) भ. आ. 1969 (3) भ. आ. 1970 (4) भ. आ. 1971

सर्वस्व वर्णन कर सकते है।[3]

शव यात्रा विधि -

(1) शव को शिविका में स्थापित करें।

(2) दृढ़ बंधनों से बाँधे ताकि उछले न।

(3) शव की पीठ ग्राम की ओर करें।

(4) निश्चित स्थान पर निश्चित मार्ग से ले जाना चाहिए।

(5) मार्ग में न खड़े होना चाहिए, न पीछे मुड़कर के देखना चाहिए।

(6) एक श्रावक मुट्ठी में कुश दर्भ का मूठ (पूला) लेकर आगे चले, न पीछे देखे और न रास्ते में रुके, निषीधिका स्थान पर पहुँचते ही साथ लाये दर्भ से संस्तर बनावें, अंतराल रहित सम बनावें।

(7) एक श्रावक कमण्डलु को जल से पूर्ण भर के तथा उसकी टोंटी आगे करके जल की पतली धार छोड़ता हुआ आगे चले। पुरुष वर्ग विमान के आगे-आगे चलें, महिलाएँ विमान के पीछे चलें।

(8) अग्नि ले जाने का भी कहीं-कहीं विधान है।[1]

(9) दर्भ की मूठ खोलकर, निषीधिका पर डालें।

(10) दर्भ/तृण/प्रासुक तंदुल चूर्ण, (केसर से) मसूर की दाल का चूर्ण, ईंट का चूर्ण/या वृक्ष की शुष्क केशर से संस्तर सर्वत्र सम करें।[2]

शव विसर्जन के लिये सामग्री -

(1) लकड़ी का विमान

(2) 5 ताम्र कलश छोटे

(3) कागज की पुष्प मालायें (विमान सजाने के लिये)

(4) घास/दर्भ -दो, तीन पूला (दर्भ/कुशा)

(5) लकड़ी की चार खूंटी

(6) चावल का आटा 2 किलो

(7) मसूर दाल का आटा 2 किलो

(8) पचरंगा सूत (मौली) 50 ग्राम

---

(1) भ. आ. 1991-1994 (2) भ. आ. 2157 (3) भ. आ. 2158

(9) चंदन लकड़ी यथा सम्भव कम से कम	1 किलो
(10) शुद्ध घी	10 किलो
(11) कपूर	500 ग्राम
(12) श्रीफल कम से कम	दो झाल (200)
(13) रोली	250 ग्राम
(14) सामान्य लकड़ी (आवश्यकता पर)	2 क्विंटल
(15) अष्ट द्रव्य सामग्री	
(16) अभिषेक सामग्री	
(17) जल	1 चरी
(18) आरती	
(19) धूप शुद्ध	1 किलो
(20) सूतली (शव बाँधने के लिये)	

शव विसर्जन विधि-

1. 4.4 हाथ प्रमाण सम चौकोर जमीन में एक हाथ गहरा गड्ढा खोदें चारों ओर से बाँस या बल्ली आदि की सुरक्षा व्यवस्था बनावें। (ताकि परिक्रमा आदि के समय भीड़ को आगे बढ़ने से रोका जा सके।)
2. संस्तर सम बनावें संस्तर दर्भ से बनावें अथवा प्रासुक चावलों से अथवा मसूर की दाल के चूर्ण से बनावें।

   विषम संस्तर का फल

   ऊपर विषम होगा तो आचार्य मरण या रोग,
   मध्य में विषम होगा तो प्रधान मुनि का मरण या रोग,
   नीचे विषम होगा तो किसी भी मुनि का मरण या रोग,
3. सम संस्तर बनाकर चारों ओर चार लकड़ी की खूटी गाढ़ें।
4. चारों खूटियों के आधार से चारों ओर मोली से तीन वेष्टन करें।
5. पद्मासन से शव की ऊँचाई को सूतली द्वारा मापें।
6. तत् प्रमाण संस्तर पर हल्दी या रोली से टूटी या विषम न हों त्रिकोण तीन रेखायें खींचे।

---

(1) त्रि. आ. 138 (2) भ. आ. 1978

7. सर्वप्रथम भूमि पर चंदन का चूरा डालें।
8. रोली से त्रिकोण बनावे। (रेखायें टूटी या विषम न हो)
9. त्रिकोण पर मसूर की दाल का आटा डालें।
10. त्रिकोण के तीनों कोनों पर उल्टे स्वस्तिक।
11. तीनों रेखाओं पर 5,7 या 9 बार 'रं' लिखें।
12. त्रिकोण के मध्य में 'ॐ ह्रीं अर्हं' लिखें।
13. "ॐ ह्रीं ह्रः काष्ठ संचयं करोमि स्वाहा" मंत्र बोलकर त्रिकोणाकार ही लकड़ी जमावें। पश्चात् जिस दिशा में ग्राम हो उस दिशा में स्थिर अर्थात् लेटे हुए हैं तो सिर और बैठे हुए हैं तो पीठ करके पिच्छि सहित रखना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि यदि शव को किसी प्रासुक स्थान पर छोड़कर आते हैं तो पिच्छि शव के पास रख दें किन्तु यदि उस अग्नि से संस्कारिक करें तो उसकी पिच्छि वहीं किसी वृक्ष आदि पर टांग देना चाहिये।

पिच्छि रखने का उद्देश्य –

कदाचित् क्षपक मृत्यु के समान सम्यक्त्व की विराधना कर देव हुआ हो तो वह पिच्छि के साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्व भव में संयमी था इत्यादि ज्ञान पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करा सकता है।[1]

14. "ॐ ह्रीं ह्रौं झ्रौं अ सि आ उ सा काष्ठे शवं स्थापयामि स्वाहा" मंत्र पढ़कर शव को काष्ठ पर स्थापित करें।
15. उल्टे क्रम से पृष्ट भाग सिर के पीछे का भाग का अभिषेक करें एवं तीन प्रदक्षिणा दें।
16. "ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं अग्नि संधुक्षणं स्वाहा" इस मंत्र को बोलकर अग्नि लगावें।[2]

अग्नि कुण्ड संरचना

मृत्यु नक्षत्र का फल -

जघन्य नक्षत्र–(1) शतभिषा, (2) भरणी, (3) आर्द्रा, (4) स्वाति, (5) आश्लेषा, (6) ज्येष्ठा। (ये 15 मुहूर्त के होते हैं)

मध्यम नक्षत्र–(1) अश्विनी, (2) कृतिका, (3) मृगशिरा, (4) पुष्य, (5) मघा, (6) पूर्वा भाद्रपद, (7) पूर्वाषाढ़ा, (8) पूर्वा फाल्गुनी (9) हस्त, (10) चित्रा, (11) अनुराधा, (12) मूल, (13) श्रवण, (14) धनिष्ठा, (15) रेवती (ये नक्षत्र 30 मुहूर्त के होते हैं)

उत्कृष्ट नक्षत्र– (1) उत्तराषाढ़ा, (2) उत्तरा फाल्गुनी, (3) उत्तरा भाद्रपद (4) पुनर्वसु, (5) रोहिणी, (6) विशाखा (ये नक्षत्र 45 मुहूर्त के होते हैं)[1]

अशुभ टालने की विधि–

17. जघन्य नक्षत्र में मरण होना संघ एवं प्रजा के लिये शांति दायक है।
18. यदि मध्यम नक्षत्र में मरण हुआ है तो जिन अर्चना करें, करावें घास का एक प्रतिबिम्ब मृतक के निकट प्रतिलेखन कर रखें तथा जोर से तीन बार उच्च स्वर से कहें–यह एक साधु स्थापित करता हूँ तुम्हें सौंपता हूँ जो यहाँ रहकर चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें।[2]
19. उत्तम नक्षत्र में मरण होने पर दो प्रतिबिम्ब प्रतिलेखन कर रखें शेष विधि पूर्ववत् करें।[3]
20. तृण के अभाव में–तंदुल चूर्ण, पुष्प की केशर, भस्म अथवा ईंट के चूर्ण से त्रिकोण के ऊपर ''का'' नीचे ''य'' अर्थात् काय लिखें।[4]

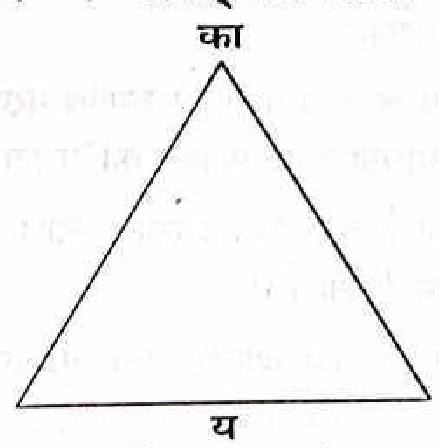

21. पश्चात् आराधना की प्राप्ति हेतु समस्त संघ एक कायोत्सर्ग करें।

(1) भ. आ. 1981 (2) त्रि. आ.

22. दाह संस्कार प्रारम्भ हो जाने पर निम्न प्रकार से भक्तियाँ पढें।
सिद्ध, योग, शांति और समाधि भक्ति पढ़ना चाहिए
आचार्य की समाधि में–
सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शांति और समाधि भक्ति पढ़ना चाहिए।

निषद्या से लौटने के पश्चात् कर्तव्य–

1. निषद्या स्थान से लौटने के पश्चात् उस स्थान पर जहाँ सल्लेखना हुई है वहाँ जाकर एक कायोत्सर्ग कर कहें कि देव! यहाँ हमारा संघ ठहरना चाहता है उसकी क्षेम कुशल के लिये स्थान दें।[1]
2. पश्चात्–यदि शव को स्पर्श नहीं किया है तो शुद्धि मात्र करें स्पर्श होने पर सिर से पैर तक तीन धारा देकर दण्ड स्नान करें।
3. निषद्या से लौटने के पश्चात् गृहस्थों से वैय्यावृत्ति के लिये मँगाये हुए वस्त्र तथा काष्ठादि उपकरण जो लौटाने योग्य हो उन्हें यथा स्थान लौटाना चाहिए।[2]

उपवास स्वाध्याय विधि-निषेध -

4. स्वगण के मुनि के मरण पर उस दिन सर्वसंघ उपवास करें, उस दिन स्वाध्याय न करें।
5. परगण के मुनि के मरण होने पर उपवास भजनीय है पर स्वाध्याय न करें।[3]

आराधक (क्षपक) स्तुति -

शिवार्य ने इस सल्लेखना करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं।[4]

'वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघ के मध्य में जाकर समाधि मरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधना रूपी पताका को फहराया हैं।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्होंने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधना को जिन्होंने पूर्णरुप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता हैं?

---

(1) भ. आ. 1983 (2) भ. आ. 1984-1985 (3) भ. आ. 1984 (2) भ. आ. 1986

निर्यापक स्तुति -

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना करते हैं।

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मैल को छुटाने वाले क्षपक रूपी तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दन और पूजन में प्रवृत्त होते हैं।'

क्षपक दर्शन फल -

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनों से सेवित होने से 'तीर्थ' कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती हैं तो तपोगुण की राशि क्षपक 'तीर्थ' क्यों नहीं कहा जावेगा? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शन का भी वहीं फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालों को पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संचय क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।'

'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा-वैय्यावृत्य करता है उस पुरुष की आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधि पूर्वक मरणकर उत्तम गति को प्राप्त होता है।'

क्षपक की वैय्यावृत्ति वंदना का फल अधिक क्या कहें स्वयं की आराधना की सिद्धि करना है।

---

(1) भ. आ. 1988 (2) भ. आ. 1987 (3) भ. आ. 1989

(4) ते सूरा भयवंतो आइच्चइदूण संघ-मज्झम्मि।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिदा जेहिं।।
ते धण्ण ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा।।
किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं।
ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला। (भ. आ.) (1995-1998)

समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश

मृत्यु–चिन्तामणी पुण्यादायाते यैः प्रमादिभिः।
आत्मार्थः साधितो नाहो तेषां स्युः जन्मकोट्यः॥

अहो! पुण्य से मृत्युरूप चिन्तामणि–रत्न के प्राप्त होने पर भी जो प्रमादीजन अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं करते हैं वे कोटि जन्मों तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

येन सन्मृत्युना पुसां जीर्ण-देहादयोऽखिलाः।
जायन्ते नूतनाः शीघ्रं निधिवत्संमुदे न कौ॥

जिस सन्मृत्यु के द्वारा पुरुषों के जीर्ण–शीर्ण शरीर और इन्द्रियादि समस्त अंगोपांग शीघ्र नवीन हो जाते हैं, वह सन्मृत्युनिधि के समान पृथ्वी पर क्या हर्ष के लिए नहीं है? अवश्य हैं।

सत्तपोव्रतयोगाद्यः त्रिजगत्सुखसम्पदः।
सतां दातुं क्षमो येन (योहि) स मृत्युः किं न शस्यते॥

उत्तम तप, व्रत और त्याग से युक्त जो मृत्यु सज्जनों के लिए तीन जगत् की सुख–सम्पदा देने को समर्थ है वह मृत्यु क्या प्रशंसनीय नहीं है? अवश्य ही प्रशंसा के योग्य है।

"उपसंहार"

प्रस्तुत आलेख में जीवन निर्माण में सहायक व्रत, जप, तप एवं ध्यान आदि की अंतिम परीक्षा की चर्चा की गई है कि जिसे साधक दीर्घ काल से अभ्यास करता है और जीवनान्त में उनकी प्रायोगिक परीक्षा देता है।

अथवा जिस मंदिर और उसके शिखर को सम्पूर्ण जीवन में बनाया है। अंत में उस पर सल्लेखना रूपी कलश चढ़ाकर समाधि रूपी ध्वजा फहराया है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप का निरतिचार पालन करना आराधना है और यह आराधना समाधि का मुख्य प्राण है। इसके बिना सल्लेखना समाधि निष्प्राण देह अर्थात् शव वत ही है अतः प्रत्येक साधकों को सल्लेखना समाधि का मुख्य उद्देश्य आराधना को समझना चाहिए।

आराधना के आगम में निश्चय एवं व्यवहार ये दो मुख्य भेद किये हैं तथा उन्हें आराधना, आराध्य और आराधना के फल के भेद से दोनों को चार-चार प्रकार से कथन किया है। साथ ही उसके सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र और तप के भेद से चार प्रकार की विशद व्याख्याएँ की हैं। आराधना का अपर नाम विनय, भक्ति और उपासना भी है आराध्य भूत निज स्वरूप को आराधक आराधनाओं के सल्लेखना समाधि पूर्वक कर्मों के क्षय रूप आराधना के फल को प्राप्त कर सकता है अन्य नहीं।

सल्लेखना -

सल्लेखना का मुख्य अर्थ है कि मृत्यु को निकट जानकर गुरु सानिध्य में या अपरिहार्य परिस्थिति में गुरु के परोक्ष सानिध्य में समय रहते हुए काय (शरीर) का तथा कषाय का सम्यक् प्रकार से कृष करना, सल्लेखना है। सल्लेखना का पात्र कोई भी भव्य चाहे जो धर्मात्मा हो सकता है चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, पर हाँ- सल्लेखना के मुख्य पात्र मुनि ही है। समर्थ श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार साधना करता हुआ अंत में मुनिव्रत अंगीकार कर सल्लेखना पूर्वक शरीर विसर्जन करता है किन्तु असमर्थ श्रावक, अपनी शक्ति के अनुसार यथाशक्य श्रावक अवस्था में रहते हुए भी सल्लेखना करता है। शास्त्रों में अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती दोनों प्रकार के श्रावक श्राविकाओं तथा आर्यिकाओं को भी सल्लेखना का पात्र माना गया है तथा शेर, हाथी, जटायू, बकरा आदि तिर्यंचों के भी उल्लेख है जिन्होंने सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण किया। आदि पुराण पर्व 6, श्लोक नं. 55, 56, में श्रीमती के जीव ने 16 वे स्वर्ग में समाधि

ली ऐसा भी उल्लेख है, पर वास्तव में सल्लेखना एकमात्र मुनियों की ही होती है उन्हीं के मरण को पंडित मरण है व पंडित मरण के भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन, इंगिनीमरण ऐसे तीन भेद किये गये हैं। प्रयोपगमन और इंगिनीमरण इस पंचम काल में उत्तम संहनन के अभाव में नहीं होते हैं। एकमात्र भक्त प्रत्याख्यान ही होता है। भक्त प्रत्याख्यान के सविचार, अविचार ऐसे दो भेद कहे गये हैं।

अविचार भक्त प्रत्याख्यान आपतकालीन परिस्थिति के अचानक आ जाने पर जहाँ की जीवन रहने की संभावना नहीं रहती तब पराक्रम हीन दशा में किया जाता है किन्तु सविचार भक्त प्रत्याख्यान जीवन के रहते हुए अर्थात् मृत्युकाल के निकट रहते हुए पराक्रमवान मुनि के द्वारा किया जाता है इसके मुख्य पात्र आचार्य और मुनि कहे गये हैं। जिसमें मुनि को तो अपने दीक्षा गुरु या गुरु के अभाव में समाधिस्थ हो जाने पर अन्य क़िसी योग्य मुनि को निर्यापक बनाना चाहिए। किन्तु आचार्य यदि सल्लेखना लें तो उनके विषय में भगवती आराधना में (40) अधिकारों का विशद व्याख्यान किया गया है। किन्तु वर्तमान में ऐसे भी आचार्य का उदाहरण नहीं दिखने में आ रहा है जिन्होंने (40) अधिकारों को साकार किया हो। अपेक्षा है इस विलुप्त परंपरा को पुनरूज्जीवित करने की। आशा है, समर्थ आचार्य इस दिशा में गम्भीरता से विचार करेंगे इस ग्रंथ में इन सभी अधिकारों का संक्षेप में वर्णन किया है।

सल्लेखना अधिकार के मुख्य दो भेद हैं कषाय सल्लेखना और शरीर सल्लेखना। कषाय सल्लेखना को आभ्यंतर तथा भाव सल्लेखना के नाम से कहा गया है तथा शरीर सल्लेखना को बाह्य सल्लेखना या द्रव्य सल्लेखना कहा है। दोनों सल्लेखना की यथाक्रम विधि का भी वर्णन किया गया है। इस सल्लेखना विधि की चरम सीमा को प्राप्त कर योगी जब ध्यान व योग की उत्कृष्ट अवस्थिति को प्राप्त कर लेता है तब समाधि को प्राप्त होता है।

समाधि–ज्ञान या भावना की एकाग्र परणति (ध्यान) का नाम ही, समाधि है यह दो प्रकार से होती हैं एक सविकल्प, दूसरी निर्विकल्प। सविकल्प गुणस्थानों में पायी जाने वाली समाधि सविकल्प समाधि कहलाती है तथा निर्विकल्प गुणस्थानों में पायी जाने वाली समाधि निर्विकल्प समाधि कहलाती है। साधक यथाशक्ति सविकल्प समाधि में वीतराग देव, शास्त्र गुरु, पंचपरमेष्ठी तथा तत्त्व एवं बारह भावना आदि का आश्रय लेता है। पुराण पुरुषों के जीवन वृतांतों का स्मरण करता है तथा पदस्थ जाप मंत्रों का ध्यान करता है तथा निर्विकल्प अवस्था में एकमात्र एकत्व विभक्त चैतन्य स्वरूप निज शुद्धात्मा का आश्रय ले, ''अंत:क्रियाधिकरण तप: फलसर्वदर्शिन: स्तवते'' वाक्य के अनुसार तप का फल अंत क्रिया सल्लेखना या समाधि के फल को प्राप्त

करता है। इस प्रकार समाधि पूर्वक मरण को, समाधि मरण कहते हैं। अतः

तस्माद्यावद्विभवं समाधि मरणे प्रयतितव्यम्'' (र. श्र.123)

अपनी शक्ति और योग्यतानुसार समाधि मरण में प्रयत्न करना चाहिए। तभी हमारे द्वारा भायी गयी भावना **''दुक्खक्खओ कम्मक्खओ वोहिलाओ सुगई गमणं समाहि मरणं जिण गुण सम्पत्ति होउ मज्झं''** सार्थक हो सकेगी।

इस प्रकार जीवन भर किये सम्यक् व्रत, जप, तप, संयम रूप साधना का परलोक सम्बन्धी यथेष्ट फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जव समाधिपूर्वक मरण होता है तव क्योंकि मरण के समय यदि धर्मानुष्ठान रूप परिणाम न होकर धर्म की विराधना रूप परिणाम हो जाते हैं तो उससे दुर्गति में जाना पड़ता है और वहाँ पूर्व भव में किये गये व्रत, जप, तप, संयम आदि शुभ कर्मों से उपार्जित पुण्य फलों को पुण्य रूप में न भोगकर पाप रूप में भोगता है क्योंकि कुगतियों में योग्य निमित्त के अभाव में वह सारा का सारा पुण्य पाप रूप निमित्त के कारणों में संक्रमित हो पाप रूप हो जाता है। इस तरह दुर्गति में पड़कर प्रायः अनंतकाल तक चतुर्गति रूप संसार परिभ्रमण करने वाला हो जाता है। अतः जीवनान्त वेला में परिणामों को सम्हालने की निरंतर सजगता की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है इसके लिये निर्यापकाचार्य व निर्यापकों तथा सहयोगी हितैपी जनों को भी चाहिए कि वे क्षपक (सल्लेखनाधारी) के निकट ऐसा कोई भी कार्य या व्यवहार न करें जिससे कि क्षपक के विशुद्ध परिणामों में आंशिक भी विकृति की संभावनाएँ वन जाए।

सम्य (सद्दृ) ग्ज्ञान–चरित्र–घोरतपसामाराधना दुष्करा,
विश्वाऽशर्म-हरा सुधर्म-जननी मुक्त्यंगना–मातृका।
श्री तीर्थेश-मुखोद्भवा मुनिवरैः सेव्या गुणानां खनी,
सेवध्वं गुणितोऽति-यत्न-वहुभिः सन्मृत्यु-संसिद्धये॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और घोर तप इन चारों की आराधना अति दुष्कर है यह संसार के सर्व दुःखों को हरण करने वाली है, सुधर्म की जननी है, मुक्ति रमा की साधिका है, गुणों की खानि है श्री तीर्थंकर भगवान के मुखारविंद से प्रकट हुई है और मुनिवरों के द्वारा सेव्य है। ऐसी भगवती परम सुखदायिनी आराधना को हे गुणिजनों! आपलोग सन्मृत्यु की संसिद्धि के लिए-समाधि मरण की प्राप्ति के लिए अत्यंत एवं बहुत यत्नों के साथ सेवन करें–सावधानीपूर्वक चारों आराधना में दत्तचित्त होवें।

यैस्तीर्थेशपरैः सतां सुगतते सम्यक् प्रणीताश्च याः,
यासां सेवनतो बभूवुरमलाः सिद्धा अनंता हि ये।
या नित्यं कथयन्ति सूरि-सुविदोऽत्राराधयन्ते परे,
तास्ते में निखिलाः स्तुता सुगतये दद्युदर्द्दगाद्यान् परान्॥

जिन तीर्थंकरादि महापुरूषों ने संत पुरूषों की सुगति के लिए जिन आराधनाओं का सम्यक् प्रणयन किया-विशद रीति से उपदेश दिया जिनके सेवन से अनंत जीव कर्म-मल से रहित होकर सिद्ध पद को प्राप्त हुए है, जिनका सूरि और सुविज्ञजन नित्य ही कथन करते हैं जिनकी आत्महितैषी जन सदा आराधना करते हैं ऐसी वे समस्त जगत-स्तुत्य विश्ववंद्य भगवती चारों आराधनाएँ तथा उनके आराधक मेरी सुगति के लिए दृग्विशुद्धि आदि परम गुणों को देवें। अर्थात् भगवती परम आराधनाओं के प्रसाद से मुझे भी उन्हीं चारों आराधनाओं की सम्प्राप्ति होवे।

इत्यलं

संदर्भित ग्रंथ सूची

1. ध. पु./.......... धवल पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या
टीका–आचार्य श्री वीरसेन स्वामी
प्रकाशक–जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर

2. क. पा./.......... कषाय पाहुड़... पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या
टीका–आचार्य श्री वीरसेन स्वामी
प्रकाशक–दिगम्बर जैन संघ, मथुरा

3. भ. आ./.......... भगवती आराधना/गाथा संख्या
टीका–आचार्य श्री शिवार्य विरचित
प्रकाशक–बाल ब्रह्मचारी श्री हीरालाल,
खुशाल चन्द दोशी, फलटन (वाखरीकर)

4. वि. टी./.......... विजयोदया टीका
टीकाकार–अपराजितसूरी
प्रकाशक–बाल ब्रह्मचारी श्री हीरालाल
खुशाल चन्द दोशी, फलटन (वाखरीकर)

5. म. क./.......... मरण कंडिका
आचार्य श्री अमितगति विरचित
प्रकाशक–नंदलाल मांगीलाल जैन
डीमापुर (नागालैण्ड)

6. आ. सा./.......... आचारसार/अधिकार संख्या/श्लोक संख्या
आचार्य श्री वीरनंदी विरचित
प्रकाशक–गजरथ समिति अशोक नगर

7. आ. सा. टी./..... आराधनासार टीका/गाथा संख्या
आचार्य श्री शान्तिवीर दिग. जैन संस्थान
प्रकाशक–बाल ब्रह्मचारी श्री हीरालाल,
श्री शान्तिवीर नगर श्री महावीर जी (राजस्थान)

8. त. सू./...../..... तत्त्वार्थ सूत्र/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या
आचार्य श्री उमा स्वामी विरचित
प्रकाशक–श्री वर्णी दिग. गुरुकुल जबलपुर

9. प. का. ता. वृ./...पंचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति/गाथा संख्या
आचार्य श्री कुन्द-कुन्द स्वामी विरचित
प्रकाशक–श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया

10. स. सि./...../.... सर्वार्थसिद्धि/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या
आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित
प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

11. रा. वा./...../..... राजवार्तिक/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या
आचार्य श्री अकलंक देव विरचित
प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

12. द्र. सं. टी./....... द्रव्य संग्रह टीका/गाथा संख्या
टीका–श्री ब्रह्मदेव सूरि कृत
प्रकाशक–श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास

13. सा. धा./...../.... सागार धर्मामृत/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या
पं आशाधर विरचित
प्रकाशक–श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया

14. वसु. श्रा....../... वसुनन्दि श्रावकाचार श्लोक संख्या
आचार्य श्री वसुनन्दि विरचित
प्रकाशक–श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया

15. गो. क. /........ गोम्मटसार कर्मकाण्ड
आचार्य श्री नेमिचन्द्र चक्रवर्ति विरचित
प्रकाशक–श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास

16. स. म. दी. /..... समाधि मरणोत्साह दीपक
आचार्य श्री सकलकीर्ति गणि विरचित
प्रकाशक–वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट,
प्लॉट नम्बर 4, भोगावीर कॉलोनी, लंका,
वाराणसी–5 (उत्तर प्रदेश)

17. अन. ध. /...... अनगार धर्मामृत
पं आशाधर विरचित
प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

18. स. भ. /.......... समाधि भक्ति श्लोक संख्या
आचार्य पूज्यपाद विरचित
प्रकाशक–श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया

19. पु. सि. उ. /.......... पुरूषार्थ सिद्धयुपाय/श्लोक संख्या
आचार्य पूज्यपाद विरचित
प्रकाशक–श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास

20. र. क. श्रा. /.......... रत्नकरण्ड श्रावकाचार/श्लोक संख्या
आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी विरचित

प्रकाशक—श्री वर्णी दिग. गुरुकुल जबलपुर

21. स्वं स्तो. टी. /.......... स्वयंभू स्तोत्र टीका

22. स्या. म. /.........स्याद्वाद मञ्जरि/श्लोक संख्या
श्री हेमचन्द्र सूरि कृत
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास

23. रि. स. /......... रिष्ट समुच्चय/गाथा संख्या

24. त्रि. आ. /.........त्रिवर्णिकाचार

समाधिमरण के प्रति जिनोपदेश

ननुघारतपोयोगवृत्ताद्यान् स्वेष्टभूतिदान्
मन्येऽहं सफलांस्तेषां यैः कृतं मरणोत्तमम्।।

मैं उन्हीं पुरूषों के घोर तप, योग और वृतादि को इष्टफलदायक और सफल मानता हूँ जिन्होंने उत्तम समाधिमरण किया है।

धीरत्वेन सत्तां मृत्युः कातरत्वेन चेद् भवेत्।
कातरत्वं बलात्त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम्।।

यदि मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कातरता (दीनता) से भी प्राप्त होती है, तो कातरता को साहस के साथ छोड़कर धीरतापूर्वक मरण करना श्रेष्ठ है, क्योंकि सन्तजन धैर्य के साथ ही मृत्यु का आलिंगन करते हैं।

समाधि मरण आत्महत्या नहीं, मरण की सम्यक् विधि है

प्रवचन

परम पूज्य राष्ट्रसंत गणचार्य विरागसागर जी महामुनिराज

24/7/2015

पथरिया

समाधि का अर्थ है ध्यान में लीन होना। समाधि-मरण यानि मृत्यु काल में भगवान का आश्रय लेना, भगवान का स्मरण करना। आज के समय में लोग इस रहस्य को नहीं जान पाते हैं। गहरा अध्ययन भी नहीं करते हैं इस कारण वे समाधि का अर्थ समाप्त होना लगा लेते हैं।

वर्तमान में शासन-प्रशासन भी इसके सही रहस्य को नहीं समझ पाया इसीलिए वह सल्लेखना समाधि को आत्महत्या मानने लगा, यह उनका सबसे बड़ा भ्रम और भ्रांति है।

जैन दर्शन सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने की बात करता है वह आत्महत्या की बात कैसे कहेगा? आत्मघात के लिए महापाप की व्याख्या केवल जैन दर्शन में की है। "आत्मघाती महापापी" कहा जाता है जहाँ इतनी ऊँची बात कही जाती है पाप और महापाप दोनों के त्याग का उपदेश दिया जाता है वहाँ समाधि मरण को आत्महत्या कहना यह तो नितांत गलत है। झूठ है। ना समझीपने का लक्षण है।

ध्यान दीजिए जैन दर्शन में आज से नहीं दो हजार वर्ष पहले आचार्य समन्तभद्र स्वामी हुए उन्होंने सल्लेखना की परिभाषा कहीं है

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचन माहुः सल्लेखनामार्याः॥122॥ र.क. श्रा.

अर्थात् निःप्रतिकार उपसर्ग, जिसमें बचने की कोई संभावना न हो, कोई उम्मीद नहीं हो, ऐसा उपसर्ग आ जाने पर, दुर्भिक्ष के आ जाने पर, वृद्धावस्था में एकदम ऐसी हालत हो जाये कि बचने की कोई उम्मीद न रहे और लाइलाज रोग के हो जाने पर धर्म के साथ शरीर का

शव विसर्जन से संबंधित चित्रावली

चित्र अग्नि कुण्ड हल्दी से बनावें

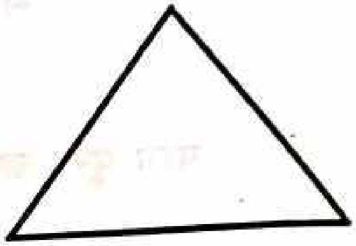

अशुभ नक्षत्र दोष परिहार के लिये मसूर दाल से काय लिखें

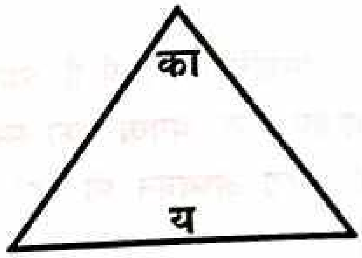

उल्टे स्वास्तिक चावल आटा से बनायें

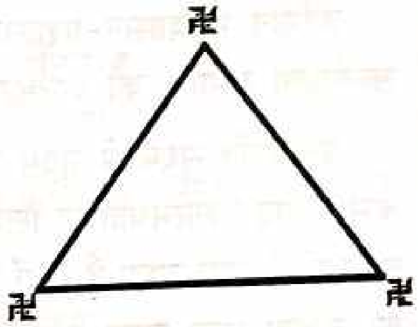

ॐ ह्रीं अर्हं लिखें

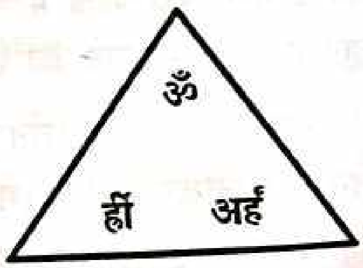

चार खूंटी

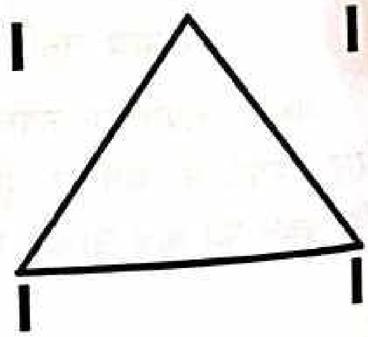

चारों खूंटी में मौली रस्सी बांधे

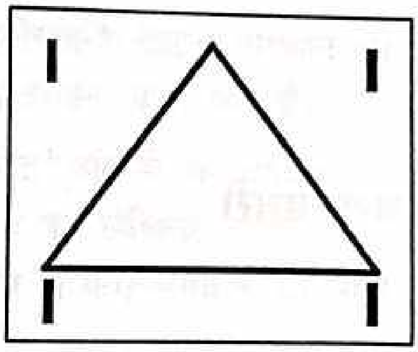

चंदन लकड़ी बिछायें

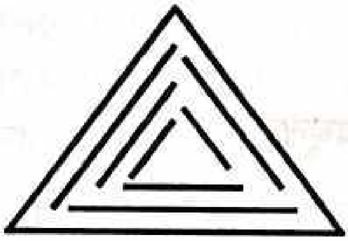

4 × 4 × 1 हाथ गड्ढा

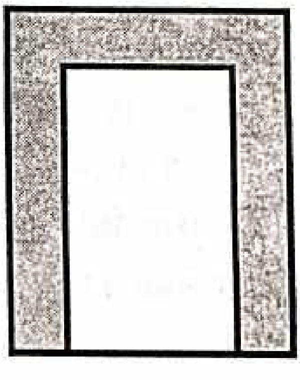

गड्ढे के चारों ओर मजबूत बांस (भीड़) रोकने हेतु लगाएँ

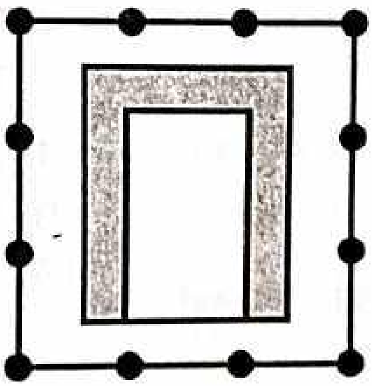

चरण छतरी

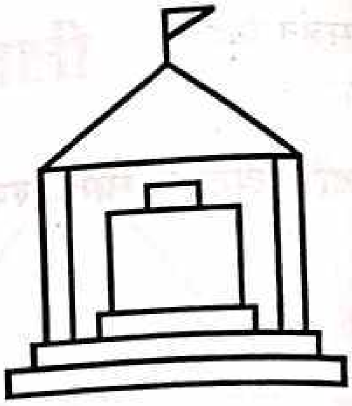

चबूतरा

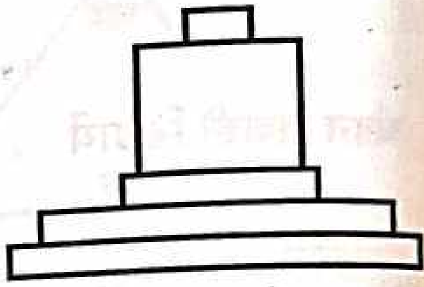

पुतला

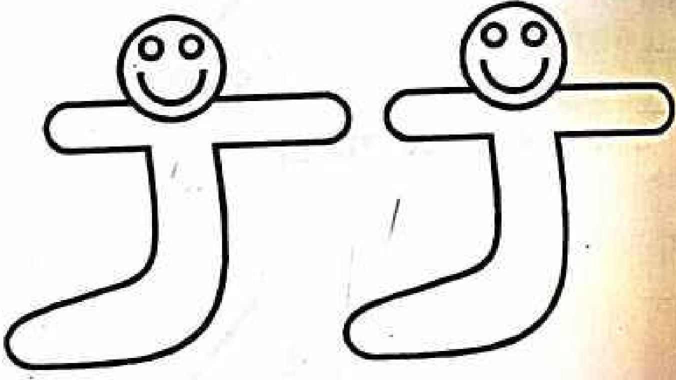

अस्थि कलश

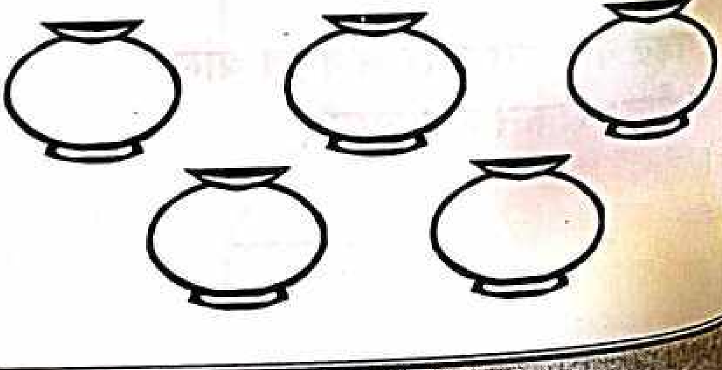

विसर्जन करना। यानि शरीर विसर्जन के समय में भगवान का नामोच्चारण करना, भगवान का ध्यान के साथ अपना अंत करना इसका नाम जैन शास्त्रों में सल्लेखना कहा गया है।

यह बात तो सभी जगह कहीं गई है 'अंत भला तो सब भला' अंत में भी भगवान का ध्यान कर लेना चाहिए कौन सा दर्शन, धर्म ऐसा है जो इस बात को स्वीकार न करता हो, इसे अच्छा न मानता हो हर धर्म कहता है कि अंत समय तो कम से कम भगवान का ध्यान कर लेना चाहिए।

शासन में भी इस प्रकार की सुविधायें हैं अभी कुछ समय पूर्व याकूप के लिए फाँसी दी गई थी उस समय 4:15 बजे उससे कहा गया था कि जिस धर्म का मानने वाला है उसके अनुसार प्रार्थना कर ले। उसी दिन नाश्ते के बाद प्रात: 6:00 बजे उससे कहा गया था अपनी पसंद की कोई धार्मिक पुस्तक को पढ़ना चाहे तो पढ़ लें। यानि शासन भी इस बात को कह रहा है कि मरना तो है ही उसके पहले धर्म, भगवान का स्मरण कर लो।

हमारे शास्त्रों में प्राचीन काल से यह कहा गया है कि मृत्यु को आज तक कोई नहीं रोक सका है। संसार दशा का यह शाश्वत सिद्धान्त है कि जब तक कर्मों से बंधे हैं तब तक जन्म मरण की परम्परा में जीना ही पड़ता है। भगवंतों ने कहा है मृत्यु को कोई नहीं रोक सकता है आयु पूरी होने के बाद प्राणी की मृत्यु हो जाती है। पुराने समय में बड़े-बड़े आचार्यगण होते थे जो अपने मृत्यु समय को जान लेते थे ऐसा जैन तथा हिन्दु पुराणों में उल्लेख है। आज कल डॉक्टर भी जान लेते हैं बहुत सारी असाध्य बीमारियाँ जब व्यक्ति को हो जाती है दवा काम नहीं करती तो डॉक्टर भी कह देते हैं अब इनका कुछ ही समय का जीवन है अब आप भगवान का स्मरण करें, जीवन को सफल बना लीजिए। ये रोग बीमारी हमारे हाथ से बाहर हो चुकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि मृत्यु के समय भगवान का ध्यान करने का नाम समाधि मरण है। हमारे यहाँ साधक जन यही प्रार्थना करते हैं कि-

दिन रात मेरे स्वामी, मैं भावना ये भाऊं।
देहान्त के समय में तुमको न भूल जाऊं॥

यह कहाँ आत्महत्या है कोई फाँसी लगा रहा है क्या? अस्त्र, शस्त्र से अपनी हत्या कर रहा है क्या? किसी अग्नि में गिर रहा है क्या? या विष भक्षण कर रहा है? ऐसा तो कुछ नहीं हो रहा, सहज रूप से मृत्युकाल निकट आ रहा है उस काल में व्यक्ति भगवान का आश्रय लेता है। घर गृहस्थी या सांसारिक कार्यों से मोह हटाता है क्योंकि मन जब तक सांसारिक

कार्यों में लगा रहेगा तो भगवान की ओर, आत्मा की ओर नहीं लगेगा, उसका कल्याण नहीं होगा।

आत्म तौर पर मृत्यु के समय में व्यक्ति व्यह्वल होने लगता है नाना प्रकार की संक्लेशतायें बढ़ने के अवसर उन्हें प्राप्त होने लगते हैं ऐसे समय में उन्होंने जो जीवन भर तक भगवान की भक्ति, पूजा, जाप्य की है व्रत-नियम पालन किये हैं वे व्रत न टूट जायें हम भगवान को न भूल जायें यह भावना रहती है।

जैसे किसी के मकान में आग लग जाये, बुझाना संभव न हो तो मकान मालिक बहुमूल्य वस्तु को वहाँ से निकाल लेता है वैसे ही मृत्युरूपी आग जिनमें लग चुकी है मृत्यु निकट आ चुकी है वे प्राणी अपनी धर्म रक्षा के लिए भगवान के नामोच्चारण के साथ अंतिम श्वास लेते हैं ये कोई बुरी बात नहीं है अच्छी बात है। निश्चित है सारा देश, सभी संप्रदायें इसे अच्छा ही मानती हैं। लोग ये समझते हैं कि पहले से ही सब त्याग करके बैठ जाना इसे तो हमारे जैन शास्त्रों में भी निषेध किया गया है। चलता-फिरता कोई आ जाये कहें हमें सल्लेखना दे दीजिए, मुझे समाधि दे दीजिए तो कोई भी दिगम्बर जैन गुरु उसे सल्लेखना नहीं देंगे। सल्लेखना तो उसी का अधिकार है जिनका मृत्युकाल निकट आ गया है। एक बात और ध्यान रख लीजिए सल्लेखना समाधि देने का अधिकार सभी का नहीं होता। जो निर्यापकाचार्य होते हैं जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया है। गुरु के निकट रहकर उस विषय को अच्छी तरह समझा है वे ही सल्लेखना व्रत में साधकों को आगे बढ़ाते हैं और शनैः शनैः परित्याग कराते हैं एक साथ त्याग कराने का हमारे शास्त्रों में विधान नहीं है। जैसे-जैसे उसका मृत्युकाल निकट आता है वैसे-वैसे त्याग कराते हैं। जब उनके अंदर जाता ही नहीं है, खाने की क्षमता ही उसमें नहीं रहती तब कहा जाता है भैया! भोजन का त्याग कर दो, तब भी पानी का त्याग नहीं कराया जाता। समाधि मरण का पाठ में भी कहा है कि भोजन का त्याग करके छाछ, पानी रखे, फिर छाछ का भी त्याग कर पानी रखे लेकिन जब पानी ही लेने की क्षमता न रहे, पानी भी न जाये तब कहा जाता है कि अब पानी का भी त्याग कर दो इसमें कहीं कोई बुराई नहीं है यह तो मरण की सम्यक् विधि है।

तो जो भी विद्वान हैं न्यायालय में बकील, न्यायाधीश हों उन्हें इस विषय का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। साधुओं के पास आकर इसकी विधि समझें और राजस्थान सरकार द्वारा जो बात उठाई गई ही है उसे बिल्कुल खारिद करने का पूरा प्रयत्न करें वह बिल्कुल गलत है। समाधि मरण आत्महत्या नहीं है हिंसा नहीं है इसे ध्यान रखें।

सल्लेखना आत्महत्या नहीं है

–लेखक : प. पू. गणाचार्यश्री विरागसागर जी महामुनिराज

जहिं मह तहिं गई- (च.प्र. 1/172)

अर्थात् जैसी मति होती है वैसी गति होती है। अर्थात् आयुबंध के समय जैसे भाव होते हैं वैसी आयु का बंध होता है अतः प्राणान्त तक अपने विचारों को सदा पवित्र रखने की भगवान महावीर स्वामी की आज्ञा है "अंत भला तो सब भला"। सभी प्राणियों को अपने अंत की भलाई के लिये सदा अच्छे कार्य करते रहना चाहिये क्योंकि जीवनान्त का कोई भरोसा नहीं होता है इसीलिये प्रत्येक धार्मिक प्राणी भावना भाता है कि–

दिन रात मेरे स्वामी मैं भावना ये भाऊँ।
देहान्त के समय में तुमको न भूल जाऊँ॥

हे प्रभो मृत्यु की वेला में मैं आपको न भूल जाऊँ। अपने व्रत-नियम संयम को न भूल जाऊँ। मृत्यु की वेला में मेरा किसी से राग-द्वेष मोह न रहे केवल अपनी आत्मा का तथा परमात्मा का ध्यान रहे, इसी ध्यान विशेष को शास्त्रों में समाधी कहा है यथा–

वयणोच्चारण किरियं परिचत्तं वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाहि हवे तस्स॥
संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाहि हवे तस्स॥

(नि.सा. 122-123)

अर्थात् जो वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भव से अपनी आत्मा को ध्याता है उसे समाधि कहते हैं। संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है उसे परम समाधि कहते हैं।

दंसण-णाण-चरित्तेसु सम्मवट्ठाणं समाहि णाम।

(धवला 8/3, 41/88)

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में सम्यक् प्रकार से अवस्थान को समाधि कहते हैं। यही बात महापुराण में कही है कि–

यत्सम्यक् परिणामेषु चित्तस्याधान मञ्जसा।
स समाधि रिति ज्ञेयः, स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम्।।

(सर्ग 22 श्लोक 226)

उत्तम परिणामों में जो चित्त का स्थिर रखना है वही यथार्थ में समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियों के स्मरण को समाधि कहते हैं अथवा

बहिरन्तर्जल्प त्याग लक्षणः योगः
स्वरूपे चित्त निरोध लक्षणं समाधिः।

(स्या.म.टी. 17/229)

बाहिर और अंतरजल्पों के त्याग स्वरूप योग है और स्वरूप में चित्त का निरोध करना समाधि है। अथवा योग ही समाधि है। यथा-

युजेः समाधि वचनस्य योगः समाधिः ध्यान मित्यनर्थान्तरम्

(रा.वा. 6/1/12)

योग का अर्थ समाधि और ध्यान भी है ये तीनों शब्द एकार्थवांची है।

(भ.आ.)

अंते समाहिमरणं (त.सू. के अंतिम क्षेपक गाथा)

जीवनान्त के समय में समाधि अर्थात् धर्मध्यान के साथ मरण करना चाहिये इसे ही सल्लेखना कहते हैं।

सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना।

(स. सि. 7/22)

सम्यक् प्रकार से काय और कषाय का लेखन करनां सल्लेखना है जो कि जीवन की जब कोई आशा नहीं रहती है तब इसे प्रीतिपूर्वक धारण की जाती है। जबरदस्ती नहीं जैसा कि कहा है कि-

मारणान्तकीं सल्लेखनां जोषिता।

(त.सू. 7/22)

अर्थात् मरणान्त वेला में संल्लेखना को प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिये रोगों की दवा हो

सकती है पर मृत्यु की दवा नहीं होती। जो जन्मा है उसे मरना अवश्य पड़ेगा।

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार

(बारह भावना)

चाहे राजा हो, राणा हो, छत्राधिपति हो, हाथी की सवारी पर चलता पर सभी को एक दिन अवश्य ही मरना पड़ता है। सम्राट सिकंदर के विषय में कहा जाता है कि-

चला सब सिकंदर इस जहाँ से, तो उसके साथ हाली और हवाली थे

सब कुछ था उसके पास, पर दोनों हाथ खाली थे।

उसने अंतिम बेला में मंत्रियों से कहा था कि मेरी मृत्यु के बाद अर्थी से दोनों हाथ बाहर ही निकाल देना ताकि दुनिया सीख सके कि सिकन्दर मरने के बाद वह खाली हाथ गया था। कुछ भी साथ नहीं ले जा सका।

इस धरा का इस धरा पर सब धरा रह जायेगा।
बांधकर मुट्ठि आया कर पसारे जायेगा॥

क्योंकि मृत्यु टलती नहीं है अतः सल्लेखना/समाधीपूर्वक मरण करना चाहिए। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचन माहु सल्लेखना मार्या॥

(र.श्रा.गा. 122)

निः प्रतिकार अर्थात् जिसके बचने की कोई भी उम्मीद न हो ऐसा उपसर्ग आने पर, ऐसे ही दुर्भिक्ष के होने पर बुढ़ापा आने पर रोग के होने पर धर्म के लिये शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। यही बात सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कही है कि-

यथा-

किं च मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्य दानादानं संचय परस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद् विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्य विनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गहस्थोऽपि व्रत शील पण्य संचये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभि वाञ्छति। तदुपप्लव कारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधने परिहरति। दुष्परिहारे च यथा स्वगुण विनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्-

(स.सि./7/22/363/5)

मरण किसी को इष्ट नहीं है। जैसे नाना प्रकार की विक्रय वस्तुओं के देने-लेने और संचय में लगे हुये किसी व्यापारी को अपने घर का नाश होना इष्ट नहीं है-फिर भी परिस्थिति वश नाश का कारण उपस्थित होने पर तो यथावस्थित वह उसे दूर करता है इतने पर भी यदि वे दूर न हो सके तो जिससे विक्रय वस्तुओं का नाश न हो ऐसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार पण्य (दुकान) रूपी व्रत शील के संचय से जुटा हुआ साधु तथा गृहस्थ उनके आधारभूत आयु आदि का विनाश नहीं चाहता। फिर भी उसके विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो जिससे अपने गुणों का विनाश न हो तदनुरूप उसे दूर करने का प्रयत्न रता है। इतने पर भी यदि वे दूर न हो तो जिससे अपने गुण/नियम/संयम। व्रत आदि का विनाश हो तो उनकी रक्षार्थ सल्लेखना व्रत स्वीकार करता है।

समाधि/सल्लेखना आत्महत्या नहीं है।

स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोतिः स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादि निवृत्तेः? नैष दोषः अप्रमत्तत्वात्। प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपण हिंसा इत्युक्ताम्।

प्रश्न- चूँकि सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है इसलिये यह आत्महत्या है क्या?

समाधान- यह कोई दोष नहीं है क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद का अभाव है क्योंकि **"प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा"** (त.सू. 7/13)

प्रमत्तयोग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है। यह पहले कह चुके हैं परन्तु इनके (सल्लेखना व्रतधारी के) प्रमाद नहीं है क्योंकि इनके रागादि नहीं पाये जाते हैं इसीलिये इसे आत्मघात का दोष नहीं लगता।

......न च अस्य प्रमादयोगोऽपि। कुतः। रागाद्याभावात्रागद्वेष मोहाविष्टस्य हि विष, शस्त्राद्युपकरणप्रयोग वशादात्मानंध्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः॥

(स. सि. 7/22)

इनके प्रमादयोग नहीं हैं क्योंकि रागादि का अभाव होने से क्योंकि राग-द्वेष मोहाविष्ट के ही विष शास्त्र आदि उपकरण के प्रयोग वश से आत्मा का हनन स्वघात/आत्महत्या कही जाती

है किन्तु सल्लेखना से युक्त साधकों के रागादिक नहीं होते हैं अत: आत्मवध का दोष नहीं आता है। यही बात पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कही है-

मरणेऽवश्यं भाविनि कषाय सल्लेखना तनुकरणमात्रे।
रागादि मन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥
यो हि कषायविष्टः कुम्भक जल धूमकेतु विष शस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः॥

(पु. सि. 177, 178, 179)

निश्चय से जो पुरुष कषाय से रंचित होता हुआ कुम्भक (श्वास-निरोध) जल अग्नि और विष शस्त्रों के द्वारा प्राणों को नष्ट करता है वह ही वास्तव में आत्मघाती है।

किन्तु मरण के नियम से उत्पन्न होने पर कषाय सल्लेखना के सूक्ष्म करने मात्र से राग-द्वेष की प्रवृत्ति के बिना सल्लेखना धारण करने वाले पुरुष के आत्मघात नहीं है।

संजमविणास भमेण उस्सासणिरोहं काऊण मुदसाहुशरीरं कत्थ णिवददि? ण कत्थवि तहा मुददेहस्स मंगलताभावादो

(ध. 1/24)

अर्थ- संयम के विनाश के भ्रम से उच्छवास निरोध को करके मरे हुए साधु के शरीर के (भक्त प्रत्यख्यानादि) किस भेदों में अंतर्भाव होता है।

समाधान- किसी में भी नहीं होता है क्योंकि इस प्रकार के मृत देह में मंगलपने का अभाव है।

समाधि-मरने की इच्छा से नहीं ली जाती है-मरने की इच्छा को तो दोष/अपराध माना गया है यथा-

सल्लेखना समाधि के पांच अतिचारा दोषों में बताया गया है कि-

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि।

जीवितशंसा	-	और अधिक जीने की इच्छा रखना।
मरणाशंसा	-	मरने की इच्छा रखना।
मित्रानुराग	-	मित्रों से मिलने की अभिलाषा रखना।
सुखानुबंध	-	अनुकूल सुख साधनों की अभिलाषा रखना।

निदानबंध – पारलौकिक भोगोपभोगों की अभिलाषा रखना।

उक्त पाँच अतिचारों में "मरणाशंसा" को दोष माना गया है। और उसे नहीं करने की आज्ञा दी गई है।

अतः समाधिमरण- मरने की इच्छा से नहीं ली जाती है किन्तु मृत्यु की बेला में धर्मध्यान में सावधान रहने की बात कही गई है और ये बात तो प्रायः प्रत्येक धर्म और न्यायालय भी स्वीकार करता है कि भगवान के स्मरण/ध्यान के साथ माना श्रेष्ठ है हाय हाय करके नहीं।

जैसा कि अभी कुछ पूर्व निांक 30 जुलाई 2015 सुप्रीम कोर्ट के निर्देशन में रास्ते में क्रिकेट में सीरियल क्लास मेन ने याकूब को नागपुर/बक्सर जेल में फांसी दी गई थी फांसी के पहले 4:15 बजे इससे कहा गया था कि वह जिस धर्म कोमानने वाला है उसके अनुसार प्रार्थना कर ले। कहा गया था तथा सुबह 6:00 बजे उसकी पसंद की कोई धार्मिक किताब पढ़ने को दी जायेगी **(हरिभूमि- राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक जबलपुर, 30 जुलाई 2015)**

इस निर्णय से यह बात सिद्ध है कि सुप्रीम कोर्ट भी जीवनान्त की बेला में धर्म प्रार्थना और साधना को उचित सम्मान देता है तो फिर सल्लेखना/समाधि/संथारा को अपराध घोषित क्यों किया गया।

मृत्यु के समय अपने धर्म के साथ मरण को आज तक किसी भी धर्म/राजा या न्यायालय ने वुरा नहीं कहा है। हर धर्म यही सिखाता है कि धर्म के साथ अपनी अन्तिम श्वास लेना-मनुष्य जीवन की सफलता है और सद्गति का संकेत है। जीवन भर तक की गई धर्म साधना का फल है। जिंदगी भर तक की गई साधना तो एक मंदिर के शिखर के समान है और अंत में समाधि के साथ मरण उसका स्वर्णिम कलश है। निकट भव्य ही इसे प्राप्त कर सकते हैं वे जीवनान्त बेला में

उक्कस्सेण दो तिण्ण भव गहणाणि, जहण्णेण सत्तट्ठ भव गहणाणि

उत्कृष्ट से दो तीन भव ग्रहण करते हैं तथा जघन्य से सात-आठ भव ग्रहण कर निर्ग्रन्थ हो निर्वाण को प्राप्त करते हैं। (पाक्षिक प्रतिक्रमण) इसका अभ्यास कम से कम आठ वर्ष की आयु में श्रावक के 12 व्रत के अन्तर्गत अंगीकार करते समय से प्रारंभ किया जाता है और जीवनान्त तक अभ्यास करने की श्रुताज्ञा है। यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार 127 तथा भगवती आराधना ग्रंथ के 19-21 वीं गाथा में कहा है कि-

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत् क्रमशः॥

(र.क.श्रा.127)

सल्लेखनाधारी व्यक्ति अन्न के आहार को छोड़कर क्रम से दूध और छाछ पान को ग्रहण करें और पश्चात् दूध को भी छोड़कर कांजी और गर्म पानी को ग्रहण करें।

आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं।
परियम्म भाविदस्स हु सुह सज्झाराहणा होइ॥
जह राय कुल पसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परियम्मं।
तो जिद करणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविरसदि हि॥
इय सामण्णं साहू वि कुणदि विच्चमवि जोगपरियम्मं।
तो जिद करणो मरणे झाण मसत्थो भविस्सहति॥

अत: उक्त प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि समाधीपूर्वक मरण आत्महत्या नहीं है कि किन्तु मृत्यु की बेला में व्रत नियम, संयम के साथ पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए मरण करना समाधिमरण है और

खरपान हापनामवि, कृत्वाकृत्वोप वासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कार मनास्तनुंत्यजेत् सर्व यत्नेन॥

(र.श्रा. 128)

अर्थात् कांची और गर्म पानी का त्याग करके फिर शक्ति से उपवास करके सर्वयत्न से पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करें।

धीरेणवि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोण्हिवि मरिदव्वं, वरं ही धीरत्तणेण मरिदव्वं॥

धीरे/धैर्यशील पुरुषों को भी मरना पड़ता है और अधीर/धैर्य रहित पुरुषों को मरना पड़ता है तो अधीर होकर मरने की अपेक्षा धैर्यता के साथ मरना श्रेष्ठ है।

आ. शिवार्य ने इस सल्लेखना करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं

ते सूरा भयवंता आइच्चइदूण संघ-मज्झम्मि।
आराधना पडाया चउप्पयारा धिदा जेहि॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सव्वेहिं।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा॥
किं णाम तेहि लोगे महदणुवेहिं हुज्ज ण य पत्तं।
आराधना भयवदी सयला आराधिदा जेहिं॥
ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादरसत्तीए उवविहिदारधणा सयला॥

(भ.आ. 1995-1998)

वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघ के मध्य में जाकर समाधि मरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधना रूपी पताका को फहराया है।

वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी है तथा उन्होंने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।

जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधना को जिन्होंने पूर्ण रूप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है

तात्पर्य यह है कि समाधि मरण एक मंगल है, महोत्सव, कल्याणप्रद इसे भाग्यशालियों को अवश्य ही करना चाहिये।

नन्धुघोरतपोयोग वृत्ताद्यान् स्वेष्टभूतिदान्।
मन्यऽहं सफलांस्तेषां यैः कृतं मारणोत्तमम्॥

मैं उन्हीं पुरुषों के घोर तप, योग और व्रतादि को इष्टफलदायक और सफल मानता हूँ जिन्होंने उत्तम समाधिमरण किया है।

धीरत्वेन सत्तां मृत्युः कातरत्वेन चेद् भवेत्।
कातरत्वं बलात्त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम्॥

यदि मृत्यु धीरता से भी प्राप्त होती है और कातरता (दीनता) से भी प्राप्त होती है तो कातरता को साहस के साथ छोड़कर धीरतापूर्वक मरण करना श्रेष्ठ है, क्योंकि सन्तजन धैर्य के साथ ही मृत्यु का आलिंगन करते हैं।

"विभिन्न जैनागम ग्रन्थों से" प्राप्त सल्लेखना के दृष्टांत

भगवती आराधना

अंवती अर्थात् उज्जैनी नगरी में सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगाली के द्वारा खाये जाने पर घोर वेदना से पीड़ित होते हुये भी शुभध्यान के द्वारा रत्नत्रय की आराधना को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1534**

पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजा के प्रिय पुत्र भगवान सुकौशल मुनि अपनी पूर्व जन्म की माता व्याघ्री के द्वारा खाये जाने पर भी उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1535**

पृथ्वी के साथ गीले चमड़े की तरह शरीर में कीलें ठोककर एकमेक कर देने पर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1536**

सनतकुमार मुनि ने सात सौ वर्षों तक खाज , ज्वर, खांसी, सूखापन, तीव्र उदराग्नि् नेत्रपीड़ा, उदरपीड़ा आदि के दुख बिना संक्लेश के धैर्यपूर्वक सहन किये।। **गाथा नं. 1537**

गंगा के मध्य नाव में डूबने पर एणिक पुत्र नाम के मुनि मोहरहित होकर मरण को प्राप्त हुये और आराधना के धारक हुये।। **गाथा नं. 1538**

घोर अवमोदर्य तप के धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूख से पीड़ित होने पर भी संक्लेशरूप परिणाम न करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1539**

कौशाम्बी नगरी में सुखपूर्वक पाले गये इंद्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जल के मध्य यमुना नदी के प्रवाह द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरण को प्राप्त हुये। उन्होंने मोहरहित होकर आराधना को प्राप्त किया।। **गाथा नं. 1540**

चंपा नगरी में एक मास का उपवास करते हुये धर्मघोष मुनि गंगा के तट पर तीव्र प्यास से पीड़ित होकर उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1541**

पूर्वभव के बैरी देव के द्वारा विक्रियापूर्वक किये गये शीत से पीड़ित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1542**

गर्म वायु, गर्म शिला तल पर अत्यंत गर्म आताप को सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1543**

रोहतक नगर में क्रौंच नामक राजा के द्वारा शक्ति नामक विशेष शस्त्र से मारा गया अग्नि राजा के पुत्र उसकी वेदना को सहनकर उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1544**

काकंदी नगरी में चंडवेग के द्वारा सब अंगों के छेद डालने पर अभयघोष मुनि उसकी वेदना को सहकर उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1545**

डास-मच्छरों के द्वारा खाये जाने पर विद्युच्चर मुनि अत्यंत घोर वेदना को सहन करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1546**

हस्तिनापुर नगर के वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरी पर्वत पर संवलिथाली की तरह जलते हुये उसकी वेदना को सहकर उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1547**

(एक पात्र में उड़द की फलिया भरकर उसे आक के पत्रों से ढ़ककर, उस पात्र का मुख नीचे करके चारों ओर आग से घेर देने पर संवलिथाली कहते हैं।)

चिलातपुत्र नामक मुनि का शरीर काली चीटियों के तीव्र डंक प्रहार से चलनी की तरह वींध दिया गया था। फिर भी उन्होंने उत्तमार्थ को प्राप्त किया।। **गाथा नं. 1548**

दंड नामक मुनि के शरीर को यमुनावक्र नाम के राजा ने तीक्ष्ण वाणों से छेदकर भर दिया था। फिर भी वे उसकी वेदना को सहन करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1549**

कुंभकारकट नामक नगर में अभिनंदन आदि पांच सौ मुनि कोल्हू में पेल दिये जाने पर भी आराधना को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1550**

चाणक्य मुनि गोकुल में प्रायोपगमन संन्यास में स्थित थे। सुवंधु नामक मंत्री ने कोंडों के ढ़ेर में आग लगा दी। उसमें जलकर चाणक्य मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1551**

कुणालपुरी में रिष्ट नामक मंत्री के द्वारा वसतिका में आग लगाने पर वृषभसेन मुनि अपने शिष्य परिवार के साथ आराधना को प्राप्त हुये।। **गाथा नं. 1552**

पाण्डव पुराणः

अभिमन्यु को द्रोणादिक निर्जन स्थान पर ले गये। वहां उसने सल्लेखना पूर्वक शरीर त्यागा जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग में देवत्व ऋद्धि को प्राप्त हुआ। 20/35-36

भीष्मपितामाह बाणों से विद्ध (युद्ध के समय) होकर जमीन में गिर गये तथा जीवन का अंत जान संन्यास धारण कर लिया जिसके प्रभाव से मरण कर पांचवे स्वर्ग में लौकान्तिक देव हुये।। 19/248-271

- पाण्डु राजा ने विरक्त हो अंत में दीक्षा धारण की तथा पंचपरमेष्ठी मंत्र का स्मरण करते हुये शरीर को त्यागकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।। 9/124-940

कहकोसु-(मुनि श्री चन्द्र विरचित)

- सोमशर्मा ने पांच दिन समाधि की साधना कर अंत में स्वर्ग को प्राप्त किया। 19 वां कडवक।।
- सोमशर्मा द्विज पिपीलिकाओं का उपसर्ग सहन कर मरणोपरांत स्वर्ग गया।।
- पंगुल सेठ ने पूर्व बैर स्मरण कर लकुच मुनि को लोहशलाकाओं द्वारा बांधा, ऐसे घोर उपसर्ग को सहनकर मुनि स्वर्ग को प्राप्त हुये।। 6वें कडवक
- इन्द्रदत्तादि वणिक् सात दिन की आयु जानकर वैराग्य धारणकर प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरण को हुये जिसके प्रभाव से वह स्वर्ग में देव हुये।। सन्धि-47, 19वें कडवक
- सर्प संन्यास ग्रहण कर मरणोपरांत नागकुमार देव हुआ वह आकर मुनि को वन्दन करता है।। 49 सन्धि

हरिषेण कृत वृहत्कथाकोशः-

- महादेवी रोहिणी ने समस्त परिग्रह त्यागकर तप ग्रहण किया और अंत में समाधिपूर्वक मरण अच्युत स्वर्ग में दिव्य शरीर की धारी देव हुई।। 582-584
- पङ्गुलक श्रेष्ठी ने गजकुमार मुनि के शरीर में कीलें ठोक दी किन्तु वे महामुनि विचलित हुये बिना समता पूर्वक मरण कर देवलोक को प्राप्त हुये।। 130वीं कथा/9
- भद्रबाहु श्रुतकेवली समाधि पूर्वक मरण कर स्वर्ग चले गये।। 131वीं कथा/43-44

- कौशाम्बी नगरी के इन्द्रदत्त आदि 32 श्रावक पादोपगमन नामक संन्यास धारण कर अंत में सुरलोक गये।। 132वीं कथा/7-8
- चिलातपुत्र दो रात-दिन तक उपसर्ग को सहन करते हुये अंत में मरण कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त हुये।। 140वीं कथा/34-35
- धीरचित्त श्री पाल क्षुधा और प्यास के परीषह को सहनकर समाधिपूर्वक स्वर्ग को प्राप्त हुये।।145वीं कथा/84
- नामवादिसेठ के आगार से आहार लेने के इच्छुक पुरुष समस्त परिग्रह का त्यागकर समाधिमरण पूर्वक स्वर्ग चले गये।। 146वीं कथा/47
- धर्मसिंह मुनि समाधिपूर्वक मरण कर दिव्य शरीर का धारी असुर देव हुआ।। 34वी कथा/19

आराधना कथाकोषः-

- हाथी संन्यास धारण कर पञ्च नमस्कार मंत्र का स्मरण करता हुआ मरण कर सहस्रार स्वर्ग में श्रीधर देव हुआ
- रश्मिवेग मुनि संन्यास पूर्वक मरण कर कापिष्ठ स्वर्ग में आदित्यप्रभ नामक देव हुए एवं आर्यिका श्रीधरा एवं यशोधरा भी संन्यास पूर्वक मरण कर उसी स्वर्ग में देव हुई।। प्र. 19-20
- बंदर ने सात दिन का संन्यास पूर्वक मरण कर सौधर्म स्वर्ग में देवत्व पद प्राप्त किया।। कथा नं. 97
- कार्तिकेय मुनि ने समाधि पूर्वक मरण किया।। कथा सं.-70
- 32 सेठ पुत्रों ने समाधि पूर्वक मरण किया।। कथा सं.-66

पद्मपुराणः-

- सुकौशल के पिता कीर्तिधर मुनिराज ने भी उस व्याघ्री को मधुर शब्दों से सम्बोधा जिससे संन्यास ग्रहण कर वह स्वर्ग गई।। 22/97
- भूख से पीड़ित होने के कारण सामने आये हुये उस अत्यन्त स्थूल अजगर के द्वारा खायी हुई वे कन्या (अनंगसरा) मरकर ईशान स्वर्ग में गयीं। 64/91

- जो धीरे-धीरे भोजन का त्याग कर अपने तपश्चरण को उग्र करता जाता था ऐसा वह हाथी सल्लेखना धारण कर ब्रह्मोत्तर स्वर्ग को प्राप्त हुआ।। 87/7
- समाधिमरण कर मधु क्षणमात्र में ही जिसका हृदयउत्तम सुखरूपी सागर में निमग्न था ऐसा सानत्कुमार स्वर्ग में उत्तम देव हुआ।। 89/115
- जिसके महातप को देखकर लोग जिसकी कथाऐं करते थे ऐसी आर्यिका सीता बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप कर तथा तैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण कर शरीर को छोड़कर आरण-अच्युत युगल स्वर्ग में आरूढ़ हो प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हुई।। 109/16-18
- अत्यन्त दुःखित होकर राम ने उस मरणोन्मुख जटायु पक्षी के कान में णमोकार मन्त्र का जाप दिया और उसके प्रभाव से वह पक्षी देवपर्याय को प्राप्त हुआ।। 44/111

उत्तरपुराणः-

- इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला वह विमलवाहन आयु के अन्त समय पञ्चपरमेष्ठियों में चित्त स्थिर कर-समाधिमरण कर तैंतीस सागर की आयु का धारक हो विजय नामक अनुत्तर विमान पर पहुंचा।। 48/13
- भोगो की असारता एवं अतृप्तता का भान कर राजा महाबल(भगवान अभिनन्दननाथ का जीव) विमलवाहन नामक गुरु के पास दीक्षित हो गये तथा ग्यारह अंग के पाठी होने के उपरांत आयु के अंत में समाधिमरण कर विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।। 50/10-13
- तदनन्तर रतिषेण (भगवान सुमतिनाथ का जीव) वैराग्य धार अर्हनन्दन जिनेन्द्र के पास दीक्षित हो ग्यारह अंग के पाठी हो गये उपरांत संन्यासमरण वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुये।।51/12-15
- पदार्थों को क्षणभंगुर जान अपराजित राजा (भगवान पद्मप्रभु का जीव) पिहिताश्रव जिनेन्द्र के समीप दीक्षित होने के उपरांत आयु पूर्णता के समय समाधिमरण कर ऊर्ध्वग्रैवेयक के प्रीतिंकर विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुये।। 52/11-14
- वह नन्दिषेण (भगवान सुपार्श्वनाथ का जीव) दीक्षोपरांत अंत में संन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ।। 53/14-15
- राजा पद्मनाभ जैनेश्वरी दीक्षा धारण सिंहनिष्क्रीड़ित तपादि करने के उपरांत अंत में

समाधिमरण पूर्वक शरीर छोड़ वैजयन्त विमान में तैंतीस सागर आयु वाला अहमिन्द्र हुआ।। 54/161-162

- चिरकाल तक तपश्चरण कर पद्मगुल्म मुनिराज (भगवान शीतलनाथ का जीव) आराधना पूर्वक समाधिमरण कर आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्ग में विशाल वैभव को धारण करने वाले इन्द्र हुये।। 56/15-16
- मित्रनन्दी राजा संसार से विरक्त होकर उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया तथा अंत में संन्यास धारण कर मरणोपरांत अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।। 59/63-70
- उसके विष से हाथी मर गया, वह चूंकि समाधिमरण से मरा था अतः सहस्त्रार स्वर्ग के रविप्रिय नामक विमान में श्रीधर नामक देव हुआ।। 59/218
- मुनि पद्मरथ (भगवान अनन्तनाथ का जीव) अंत में सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्रपद प्राप्त किया।। 60/12
- मुनि महाबल अन्त में संन्यास मरण कर सहस्त्रार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।। 60/62
- मुनि सुमित्र कृष्णाचार्य के पास दीक्षित हो गये तथा घोर सिंहनिष्क्रीड़ित तपादि करने के उपरांत निदान पूर्वक मरण करने के उपरांत माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।। 61/61-65
- किसी दिन मेघनाद मुनि पर्वत पर प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे कि तभी सुकंठ असुर उन पर घोर उपसर्ग करने लगा किन्तु मुनिराज किंचित भी विचलित नहीं हुये और अन्तोगत्वा संन्यासमरण कर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुये।। 63/32-36
- वज्रायुध और सहस्त्रायुध (पिता-पुत्र) मुनि चिरकाल तपस्या कर अंत में संन्यासमरण कर उर्ध्वग्रैवेयक में बड़ी ऋद्धि के धारक अहमिन्द्र हुये।। 63/140-141
- अभयघोष मुनि आयु के अंत में समाधिमरण कर अच्युतस्वर्ग में देव हुआ।। 63/178
- अत्यंत धीर मेघरथ नमस्तिलक पर्वत पर शान्त परिणामों से समाधिमरण कर अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुये।। 63/336-337
- राजा दशरथ ने भोगों से विरक्त होकर दीक्षित होकर उत्तम तप कर अंत में समाधिमरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ।। 61/08-09
- राजा हरित भी-मुनिराज के द्वारा सम्बोधे जाने पर विरक्त हो गया और संयम धारणकर अंत में समाधिमरण कर प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हुआ।। 67/12-15

- राजा हरिषेण ने महासेन नामक पुत्र को राज्य देकर संयम धारण किया और अंत में संन्यास मरण कर अनुत्तर विमान-सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुआ।। 67/86-87
- सिद्धार्थ मुनि ने (भगवान नेमिनाथ का जीव) अन्त में समाधिमरण कर अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त किया।।
- वसुधर मुनि कठोर तपश्चरण कर अन्त में समाधिमरण कर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ।। 69/77
- जयसेन मुनि सम्मेदशिखर के चारण नामक ऊंचे शिखर पर प्रायोपगमन संन्यास धारण का आराधना करता हुआ अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।। 69/90-11
- अपराजित मुनि संन्यास के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक अच्युतेन्द्र हुये।। 70/48-50

राजा सुप्रतिष्ठ ने दीक्षा लेकर विधिपूर्वक संन्यासधारण कर मरणोंपरांत जयन्त स्वर्ग में अर्हमन्द्र पद को प्राप्त किया।। 70

- वीरदन्त वैश्य पत्नि के विकार को सुन प्रोष्ठिल मुनि के पास दीक्षित हो आयु के अन्त में संन्यास मरण कर सौधर्म स्वर्ग में चित्राङ्गद नाम का देव हुआ।। 70/72
- गौतम मुनिराज आयु के अन्त में समाधिपूर्वक मरण कर मध्यम ग्रैवेयक में सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुये।। 70/179
- धनदेवादि 9 भाई, दोनों बहिनों और नन्दयशा ने उसी शिलातल पर विधिपूर्वक संन्यास धारण कर मरण को प्राप्त हुये उपरांत आनत स्वर्ग में देव हुये।। 70/193-195
- अन्धकवृष्टि मुनि तप धारण कर अंत में मुक्ति रमा को प्राप्त हये।। 70/214
- सुभानु आदि सातों मुनिराज आयु के अंत में मुक्ति संन्यासमरण कर प्रथम स्वर्ग में त्रायस्त्रिंश जाति के देव हुये।। 72/248
- वह सिंह जिसने व्रतों को अंगीकार किया था अंत में संन्यास धारण कर मृत्यु उपरांत सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हुआ।। 74/219
- मुनि कनकोज्वल अन्त में संन्यास मरण कर सातवें स्वर्ग में हुआ।। 74/229
- राजा आनंद शिर का सफेद बालदेख वैराग्य को प्राप्त हुये अथानन्तर संयम को धारण कर सिंह का उपसर्ग सहनकर अंत में समाधिमरण कर प्राणत विमान में इन्द्र हुये।। 73/66-68

हरिवंशपुराणः–

– हरिवाहन ने श्रीधर्म और अनन्तवीर्य मुनि के दर्शानोपरांत विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली और आयु के अन्त में सल्लेखना धारण कर ऐशान स्वर्ग में देव हुये।। 60/21

– दोनों आर्यिकाओं ने भी सावधिक संन्यास ले लिया।। 27/85–87

– कृष्ण की बहन ने आर्यिका व्रत को धारण कर अंत में अनशनपूर्ण समाधि सल्लेखना धारण की तदन्तर प्रतिमायोग में ही मरणकर स्वर्ग गयीं।। 49/30

– हरिवाहन ने दीक्षोपरांत अन्त में सल्लेखना धारण कर ऐशान स्वर्ग की विभूति को प्राप्त किया।। 60/21

– सौ वर्ष तक तप कर बलदेव मुनिराज अन्त में समाधिमरण कर ब्रह्मलोक में इन्द्रपद को प्राप्त हुये।। 61/33

वरांगचरितः–

– राजर्षि वरांग उच्च कोटि के तपस्वी थे उन्होंने अंत में प्रायोपगमन संन्यास धारण कर सर्वार्थसिद्धि की महान विभूति को प्राप्त किया।। 31/56–62

पुण्याश्रव कथाकोशः–

– धन्यकुमार ने मुनि अवस्था में 9 माह तक प्रयोपगमन संन्यास पूर्वक शरीर को छोड़ा और तप के प्रभाव से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुये।।

चन्द्रप्रभचरितः–

– मुनि पद्मनाभ निर्दोश वृत्ति से आराधना के द्वारा शरीर को छोड़कर अनुत्तर वैजयन्त नामक स्वर्ग में गये।। 15/165

पासणाहचरिउः–

– वज्रनाभि मुनि के शरीर को शबर ने बाण से बेध भेद दिया किन्तु वे रंचमात्र भी विचलित न होकर समाधि सल्लेखना पूर्वक मरण को प्राप्त हुये और ग्रैवेयक में उत्पन्न हुये।। 6/16

सुकोसल चरिउः–

पद्मावती हथिनी शुद्धभावपूर्वक संन्यास लेकर मरी और धनदत्तवणिक और धनदत्ता के यहां श्री धर नामक पुत्र हुआ। सुकोसल चरिउ 4/14

प्रद्युम्नचरितः–

वह चाण्डाल गुरु वचनों के अनुसार माह भर संन्यास धारण कर मरा और नन्दीश्वर देव हुआ।। 6/84

आदिपुराणः–

- राजा शतवल ने चिरकाल तक भोगों को भोगने के उपरांत अंत में भोगों से विरक्त होकर अनसनादि तपों को तपकर मरणोपरांत माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।। 5/142-143
- बुद्धिमान महावल ने स्वयंबुद्ध मन्त्री से अपनी आयु का क्षय जानकर विधिपूर्वक शरीर छोड़ा और ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव हुआ।। 5/226-230
- राजा सुविधि पुत्र स्नेह के कारण ग्रहस्थ अवस्था का त्याग नहीं कर सका इसलिये श्रावक के उत्कृष्ट पद में स्थित होकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़ा जिससे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुआ।। 10/169/170
- आयु के अंत में वज्रनाभि मुनि ने संन्यास धारण कर समाधि मरण किया और सर्वार्थसिद्धि में देव हुये।। 11/95-111

  अर्धचक्रवर्ती पुत्र चन्द्रकीर्ति ने अणुव्रत धारण कर अंत में संन्यासविधि पूर्वक शरीर त्यागा जिसके प्रभाव से वह माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।। 7/10-11

मरणकण्डिकाः–

- कौशलाधिपति धर्मसिंह ने अपनी पत्नी चन्द्रश्री का त्यागकर श्वांस निरोध द्वारा समाधिमरण को साधा था।। 2145।।
- पाटलीपुत्री नगरी में अपनी पुत्री के लिये मामा श्वसुर द्वारा उपसर्ग किये जाने पर ऋषभदेव नाम के व्यक्ति ने श्वांस निरोध कर सल्लेखना की।। 2146।।
- मुनि का वेश लेकर चोर ने राजा को मारा था उस समय वहां पर आचार्य श्री ने संघ पर आने वाली आपत्ति दूर करने के लिये शस्त्र ने अपना घात कर अपना समाधिमरण किया।। 2147।।
- किसी कारण से शकटाल मुनि ने नंद राजा के क्रोधित होने पर स्वयं का शस्त्र द्वारा घातकर समाधिमरण रूप स्वार्थ सिद्ध किया।।2148।।

इसी प्रकार वसुनंदिश्रावकाचार, अष्टपाहुड़–आ. श्रुतसागर कृत टीका, आचारसार, आराधनासार, प्रथमानुयोग संबंधि ग्रंथों में अनेकों दृष्टांत प्राप्त होते हैं। उन्हें भी देखना चाहिए।

पूज्य गुरूदेव द्वारा सम्पन्न समाधि-सल्लेखनाएँ

1. 1980	दुर्ग (छ.ग.)	मुनिश्री आनन्दसागर जी महाराज	निर्यापक
2. 1981	नागपुर (महा.)	आर्यिकावीर मति माता जी	निर्यापक
3. 1981	नागपुर (महा.)	एक श्रावक	निर्यापक
4. 1981	कारंजा (महा.)	श्रीमती मधुरा बाई चोवरे	निर्यापकाचार्य
5. 1982	कारंजा (महा.)	श्रीमती मैना मौसी	निर्यापकाचार्य
6. 1983	परभणी (महा.)	श्रीमती चाकुते बाई	निर्यापकाचार्य
7. 1985	भावनगर (गुज.)	श्रीमती विजया बेन	निर्यापकाचार्य
8. 1985	नागफणी (राज.)	श्रीमती वद्धा श्रावक	निर्यापकाचार्य
9. 1985	नावाँ (राज.)	श्रीमती वृद्ध दादी जी	निर्यापक
10. 1985	नावाँ (राज.)	श्रीमती वृद्ध दादी माँ	निर्यापकाचार्य
11. 1986	लाडनू (राज.)	ब्रह्मचारिणी बहिन	निर्यापक
12. 1987	जयपुर (राज.)	आर्यिका सूर्यमति माता जी	निर्यापक
13. 1987	जयपुर (राज.)	मुनि श्री मतिसागर जी महाराज	निर्यापक
14. 1987	जयपुर (राज.)	क्षुल्लक नवीनसागर जी महाराज	निर्यापक
15. 1987	सांगानेर (राज.)	क्षुल्लिका संयममति माता जी	निर्यापकाचार्य
16. 1988	भिण्ड (म.प्र.)	श्रीमती गुलकंदा बाई	निर्यापकाचार्य
17. 1991	हरदुआ (म.प्र.)	विनीत कुमार श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
18. 1.1.1995	सागर (म.प्र.)	मुनि श्री विसर्गसागर जी महाराज	निर्यापकाचार्य
19. 16.12.1995	ललितपुर (उ.प्र.)	क्षुल्लिका विसर्जन श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
20. 1996	कटनी (म.प्र.)	श्री रमेशचन्द्र जी के पिता जी	निर्यापकाचार्य
21. 1996	मंड़िया जी	श्रीमती कोसाबाई	निर्यापकाचार्य
22. 1996	मड़िया जी	श्रीमती पूजाबाई वाइफ ऑफ श्री धर्मचन्द्र जी	निर्यापकाचार्य

23. 1996	मड़िया जी	फुग्गावालों की माँ	निर्यापकाचार्य
24. 1996	मड़िया जी	श्रीमती शन्तिबाई शाहपुर	निर्यापकाचार्य
25. 1996	मड़िया जी	वृद्धा माताजी	निर्यापकाचार्य
26. 10.1.1998	भिण्ड	मुनि श्री विग्रहसागर जी महाराज	निर्यापकाचार्य
27. 22.6.1998	शौरीपुर	मुनि श्री विश्वलोकसागर जी महाराज	निर्यापकाचार्य
28. 1999	भिण्ड	श्रीमती जैनी देवी	निर्यापकाचार्य
29. 1999	भिण्ड	श्रीमती केशर वाई जैन	निर्यापकाचार्य
30. 1999	भिण्ड	ब्र. श्री धर्मजीत जी जैन (भिण्ड)	निर्यापकाचार्य
31. 1999	भिण्ड	श्री महावीर प्रसाद जी गुड़वाले	निर्यापकाचार्य
32. 14.12.2000	श्रीसम्मेद शिखर जी	मुनि श्री विश्वधैर्य सागर जी	निर्यापकाचार्य
33. 14.12.2000	श्रीसम्मेद शिखर जी	आर्यिका मोक्षमति माता जी	सह निर्यापका.
34. 14.12.2000	श्रीसम्मेद शिखर जी	आर्यिका कल्याण मति माता जी	सह निर्यापका.
35. 14.12.2000	श्रीसम्मेद शिखर जी	ब्रह्मचारिणी बहिन की दीक्षा, समाधि संघस्थ आ. भरत सागर जी	सह निर्यापका.
36. 14.12.2000	श्रीसम्मेद शिखर जी	ब्रह्मचारिणी दीदी संघस्थ आ. ज्ञानमति माती जी	सह निर्यापका.
37. 14.12.2002	देवली (म.प्र.)	श्रीमती शान्तिबाई बीना	निर्यापकाचार्य
38. 11.06.2002	मौराजी (सागर)	क्षुल्लिका विनम्रता श्री मा.	निर्यापकाचार्य
39. 16.09.2002	श्रेयांसगिरि	आर्यिका वियोग श्री मा.	निर्यापकाचार्य
40. 18.9.2002	बीना (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वकीर्ति सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
41. 2.08.2003	भिलाई (छ.ग.)	मुनि श्री विश्वधर्म सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
42. 4.02.2004	नवपारा (छ.ग.)	आर्यिका विमान श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
43. 11.12.2004	नागपुर (छ.ग.)	आर्यिका विधान श्री माता जी	परोक्ष निर्यापका.
44. 3.1.2005	करगुवांजी	मुनि श्रीविश्वभूति सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
45. 3.1.2006	हलगा (कर्ना.)	गणिनी आ. विजयमति माता, संघस्थ आ. सुबाहुसागर जी	सह निर्यापका.

46. 19.02.2006	श्रवणवेल गोला (कर्ना.)	प्र.ग.आ. विजयमति माता जी	सह निर्यापका.
47. 25.11.2006	चिगमर (तमि.)	क्षुल्लक विश्वात्मासागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
48. 2007	औरंगाबाद (महा.)	मुनि श्री समाधि सागर जी	निर्यापकाचार्य
49. 2007	ऊदगाँव (महा.)	आर्यिका सहस्रमति माता जी	सह निर्यापका.
50. 20.1.2008	ऊदगाँव (महा.)	आर्यिका विशान्त श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
51. 15.9.2008	बोरीवली मुंबई	मुनि श्री विश्वप्रिय सागर जी	निर्यापकाचार्य
52. 2008	बोरीवली मुंबई	श्री विरदीचन्द जी	निर्यापकाचार्य
53. 22.12.2009	हिम्मत नगर (गुज.)	मुनि श्री विश्वविभु सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
54. 22.1.2010	तारंगा जी (गुज.)	मुनि श्री विश्वदृढ़ सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
55. 19.1.2011	बांसवाड़ा (खांदू कालोनी)	आर्यिका वीर श्री माता जी महा.	निर्यापकाचार्य
56. 22.1.2011	बांसवाड़ा (खांदू कालोनी)	आर्यिका विरक्त श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
57. 23.2.2011	नालंगिया (राज.)	मुनि श्री विश्वज्योति सागर जी	निर्यापकाचार्य
58. 23.3.2011	भीलवाड़ा (राज.)	मुनि श्री विश्वशान्ति सागर जी	निर्यापकाचार्य
59. 3.10.2012	सागर (म.प्र.)	मुनि श्री प्रत्यक्षसागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
60. 23.10.2012	व्यावर (राज.)	आर्यिका विजया श्री माता जी	परोक्ष निर्यापका.
61. 4.11.2012	जयपुर (राज.)	मुनि श्री विश्वेश्वर सागर जी	निर्यापकाचार्य
62. 4.11.2012	जयपुर (राज.)	मुनि श्री विश्वभूतेश सागर जी	निर्यापकाचार्य
63. 2.11.2012	जयपुर (राज.)	मुनि श्री विश्वजीत सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
64. 2.11.2012	जयपुर (राज.)	आ. विप्रमुक्ता श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
65. 18.12.2012	कीर्तिनगर जयपुर	मुनि श्री विश्वाक्ष सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
66. 2.6.2013	इन्दौर	क्षुल्लिका विश्वपुष्पा श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
67. 25.11.2013	देवली (राज.)	मुनि श्री विश्रेयसागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
68. 29.11.2013	पुष्पगिरि (म.प्र.)	क्षुल्लक विश्वमैत्रेय सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
69. 30.12.2013	त्यौदा (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वशीलसागर जी महा.	निर्यापकाचार्य

70.	30.1.2014	मड़ावरा(उ.प्र.)	मुनि श्री विश्वमूर्ति सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
71.	10.2.2014	कारीटोरन (उ.प्र.)	श्रीमती सुभद्रा बाई मड़ावरा	निर्यापकाचार्य
72.	5.3.2014	खजुराहो (म.प्र.)	आर्यिका विभाल श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
73.	19.3.2014	छतरपुर (म.प्र.)	आर्यिका विहंस श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
74.	21.4.2014	पंचपोखड़ी (झार.)	क्षु. विजितेन्द्र सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
75.	30.4.2014	गुनौर (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वपद सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
76.	21.5.2014	देवेन्द्र नगर (म.प्र.)	आर्यिका विगत श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
77.	24.5.2014	देवेन्द्र नगर (म.प्र.)	क्षुल्लिका विप्रयाण श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
78.	2014	देवेन्द्र नगर (म.प्र.)	श्री बाबूलालजी जैन (10 प्रतिमा)	निर्यापकाचार्य
79.	30.9.2014	श्रेयांसगिरि	श्री बाबूलाल वृजपुर	निर्यापकाचार्य
80.	21.3.2015	श्रेयांसगिरि	आर्यिका विशुभ्रा श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
81.	2015	पन्ना (म.प्र.)	श्रीमती शान्तिबाई जैन	निर्यापकाचार्य
82.	14.4.2015	पन्ना (म.प्र.)	आर्यिका विमोक्षा श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
83.	19.5 से 11.6 2015	दमोह (म.प्र.)	श्रीमती कल्पना जैन टीकमगढ़	निर्यापकाचार्य
84.	26 से 29.12	टीकमगढ़ (म.प्र.) 2015	श्रीमती कमला देवी	निर्यापकाचार्य
85.	20.8.15	पथरिया (म.प्र.)	आर्यिका विहार श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
86.	31.8.15	पथरिया (म.प्र.)	आर्यिका विकल श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
87.	3.2.16	पाली (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वजिनसागर जी	निर्यापकाचार्य
88.	9.2.16	पाली (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वसिद्धि सागर जी	निर्यापकाचार्य
89.	21.2.16	थूवौनजी	मुनि श्री विश्वपद्म सागर जी	निर्यापकाचार्य
90.	26.7.16	द्रोणगिरि	मुनि श्री विश्वयोग सागर जी	परोक्ष निर्यापका.
91.	22.11.16	भिण्ड (म.प्र.)	मुनि श्री विश्वरुचि सागर जी	निर्यापकाचार्य
92.	2.12.16	महामृत्यंजय	मुनि श्री विश्वकुन्द सागर जी	निर्यापकाचार्य
93.	21.2.16	सतना (म.प्र.)	श्रीमती शशि जैन	परोक्ष निर्यापका.
94.	.3.17	सागर (म.प्र.)	आर्यिका विजय श्री माता जी	परोक्ष निर्यापका.
95.	26.9.17	कविनगर	मुनि श्री विश्वविज्ञ सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य

				निर्यापकाचार्य
96.	24.10.17	कविनगर	मुनि श्री विश्ववंद्य सागर जी	परोक्ष निर्यापका.
97.	2.11.17	दिल्ली (गाजि.)	श्री हुकुमचन्द्र जी (भिण्ड)	परोक्ष निर्यापका.
98.	13.11.17	वसुन्धरा (गाजि.)	आर्यिका विशाल श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
99.	30.11.17	इन्द्रापुरम् (गाजि.)	आर्यिका विसोही श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
100.	12.12.17	जनकपुरी दिल्ली	मुनि श्री विश्वपूज्य सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
101.	13.12.17	जनकपुरी दिल्ली	मुनि श्री विश्वस्त सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
102.	6.1.18	भवाना (उ.प्र.)	मुनि श्री विश्वादर्श सागर जी	निर्यापकाचार्य
103.	14.1.18	कविनगर (गाजि.)	आर्यिका विदर्भ श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
104.	6.5.18	नसिया इटावा	क्षुल्लिका विप्रसन्न श्री माता जी	परोक्ष निर्यापका.
105.	13.5.18	रीवा रोड़	आर्यिका विभूति श्री माता जी	परोक्ष निर्यापका.
106.	.8.18	ईसरी (झार.)	श्री पवन भैया जी	निर्यापकाचार्य
107.	17.11.18	श्री सम्मेद शिखर जी	मुनि श्री विश्वानन्द सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
108.	10.9.18	दिल्ली	मुनि श्री वीर सम्राट सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
109.	19.12.18	दरगुवां	मुनि श्री विश्वदृष्टा सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
110.	4.1.19	दरगुवां	मुनि श्री विश्वरत्न सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
111.	30.1.19	रांची	मुनि श्री विश्वध्येय सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
112.	13.6.19	दाता	मुनि श्री विश्वनाथ सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
113.	2.8.19	कोलकाता	मुनि श्री विश्वपुण्य सागर जी महा.	निर्यापकाचार्य
114.	9.8.19	कोलकाता	आर्यिका विनिग्रह श्री माताजी	निर्यापकाचार्य
115.	30.10.19	कोलकाता	मुनि श्री सुपार्श्वसागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
116.	9.11.19	गया	श्रीमती रत्तिवाई जी	निर्यापकाचार्य
117.	5.1.20	सम्मेद शिखर जी	श्रमण मुनि विश्वभूषण सागर जी	परोक्ष निर्यापका.
118.	6.1.20	बूंदी	क्षुल्लिका विश्वोत्तम सागर जी	निर्यापकाचार्य
119.	8.1.20	सम्मेद शिखर जी	आर्यिका विश्रमा श्री माताजी	निर्यापकाचार्य
120.	13.2.20	वरोर (फतेहपुर)	मुनि श्री विश्वमित्र सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
121.	21.2.20	कानपुर	मुनि श्री सुरत्न सागर जी महा.	परोक्ष निर्यापका.
122.	1.3.21	भिण्ड	आ. विश्वसिद्धि श्री माता जी	निर्यापकाचार्य
123.	27.4.21	इटावा	मुनि श्री विश्वानुत्तर सागरजी महा.	

दया मृत्यु एवं संथारा प्रथा का वैज्ञानिक आधार

डॉ. राजकुमार गुप्त (वरिष्ठ प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, टी.डी.पी.जी. कॉलेज, जौनपुर 2220028 (उ.प्र.) की दृष्टि में–

मानव जीवन आस्थामूलक है। यह आस्था, विचारशीलता, आत्मबोध, परहित भाव वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा रखती है। महाभारत के अनुसार युधिष्टिर से यक्ष ने पूछा हे पाडण्व! व्यक्ति का विस्तार कितना होता है? साधारण व्यक्ति इसका उत्तर यह देता–'यक्ष बन्धु! लगभग साढ़े तीन हाथ। परन्तु युधिष्ठर का उत्तर भिन्न है। उन्होंने मनुष्य के त्रिकाल व्याप्त बौद्धिक एवं नैतिक आयामों को ध्यान में रखते हुए उत्तर दिया था–"व्यक्ति के कर्मों का यश पृथ्वी से उठकर आकाश को स्पर्श कर लेता है। किसी मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों की ध्वनि जितने क्षेत्र में व्याप्त होती है, उतना ही उस व्यक्ति का विस्तार समझो।[1]

किन्तु बीसवीं सदी के व्यक्ति की जीवनदृष्टि उपयोगी एवं अनुपयोगी मानक से अनुराग रखती है।[2] यह जीवन दृष्टि समाज को ऐसे यक्ष प्रश्न पर विचार-विमर्श हेतु विवश कर रही है, जिसके श्रवण मात्र से ही व्यक्ति में कँपकँपी उत्पन्न हो जाती है। लेकिन व्यक्ति सामाजिक यथार्थ से भी असम्पृक्त नहीं रह सकता। यही कारण है कि अब समाज ने जीवन की वसीयत पर विचार विमर्श हेतु मंच बना लिया है, जिसे 'वर्ल्ड फेडरेशन आफ टू डाई सोसायटी' कहा जाता है। इस गैर अन्तरराष्ट्रीय मंच का प्रथम अधिवेशन 1976 में जापान के शहर टोक्यो में आयोजित हुआ था। तब से प्रत्येक दूसरे वर्ष यहाँ इसका आयोजन किया जाता है। फेडरेशन की वेवसाइट के अनुसार–"जब व्यक्ति की मानसिक स्थिति ऐसी हो कि कोई निर्णय लेने में असमर्थ हो, तो मनुष्य के पास यह अधिकार होना चाहिए कि उसे कब और कैसे मरना है?"

भारत में मुम्बई की मीनू मसानी ने भी 1981 में ' द सोसायटी फार द राइट टू डाई विद डिगनिटी' स्थापित किया है।

ज्ञातव्य है कि 'दया मृत्यु' की अवधारणा बीसवीं सदी की अभिव्यक्ति है। यह असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति की शारीरिक वेदना से जीवन को अन्त करने का चिकित्सकीय साधन (Medical termination of life (M.T.L) है।

तब किसी व्यक्ति की मृत्यु असाध्य रोग से अवश्यम्भावी लगती है तथा उसके लिए वेदना रहित एवं सार्थक जीवन की आशाएं क्षीण हो चुकी होती है तो रोगग्रस्त व्यक्ति की सहमति पर अथवा संरक्षक बन्धुओं की प्रार्थना पर चिकित्सक दया-मृत्यु' प्रदान करने के अप्रिय विकल्प का चयन करते हैं, जो सम्बन्धित व्यक्तियों के 'संकल्प-शक्ति Will-Power से लिया गया निर्णय होता है।

तदुपरान्त रोगी की कृत्रिम जीवन रक्षक दवाएं तथा शल्य चिकित्सा आदि साधन बन्द कर दिये जाते हैं एवं केवल दर्द निवारक साधन जारी रखे जाते हैं। इस अप्रिय विकल्प के अनुसरण से रोगी आत्महत्या किए बिना चिरनिद्रा में सो जाता है जैसे मार्च 2001 से ब्रिटेन की एक 43 वर्षीय महिला ने अदालत से प्रार्थना की कि उसे दी जा रही प्राणदायक कृत्रिम साँस बन्द कर दी जाए, अदालत ने महिला को स्वीकृति प्रदान कर दी।[3]

किन्तु समाज के लिए जीवन और मृत्यु में भेद करना यक्ष प्रश्न की भाँति होता है! उदाहरणार्थ—अमेरिकी नागरिक 'टेरी शिआवो' मस्तिष्क क्षतिग्रस्त होने के कारण अपने जीवन के विषय में निर्णय करने में असमर्थ थी। फलस्वरूप उसके पति की प्रार्थना पर अदालत ने 1990 से निष्पंद पड़ी शिआवो के प्राणरक्षक उपकरण हटाकर उसे चिरनिद्रा में सोने की अनुमति प्रदान कर दी, किन्तु शिआवो के माता-पिता ने इसका विरोध किया; क्योंकि उन्हें अभी उसके पुनः स्वस्थ होने की आशा थी। अतः अदालत ने अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया और माना कि यदि शिआवो की राय ली जा सकती तो क्या वह अपनी मृत्यु के पक्ष में होती? फलस्वरूप न्यायालय ने निर्णय दिया कि जिन रोगियों की प्रत्यक्ष राय नहीं जानी जा सकती, उनके जीवनरक्षक उपकरण जारी रखे जाय। तत्पश्चात् न्यायालय के आदेश पर रोगी शिआवो को 6 दिन के पश्चात् जीवन रक्षक उपकरण लगा दिए गये।[4]

जीवन और मृत्यु के मध्य अन्तर करने के निर्णय का एक अन्य सन्दर्भ यह भी है कि जो साँस की असाध्य रोग से पीड़ित 60 वर्षीया माँ, पुत्र तथा डाक्टर के मध्य 'दया मृत्यु' के अन्तिम विकल्प पर विचार करने से है। यदि डॉक्टर रोगी महिला के जीवन को बचाने का उपाय करता है तो उसे महिला के प्राण रक्षक उपकरण को जारी रखना होगा। अन्ततः पुत्र माँ की तरफ से निर्णय करता है और डॉक्टर से कहता है कि मैं आपसे माँ के प्राणरक्षक उपकरण को हटाने के लिए नहीं कहूँगा; लेकिन कृपया माँ की चिकित्सा न करें; उन्हें शान्ति से अन्तिम साँस लेने दें।[5]

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही फेफड़े की बीमारी से ग्रस्त 59 वर्षीय नीता बेनर्जी द्वारा 'दया मृत्यु'

के अप्रिय विकल्प के अनुकरण का प्रसंग भी है, जिन्होंने प्राणरक्षक दवा के सहारे जीवित रहने के बजाय चिरनिद्रा में सोने का निर्णय किया नीता बेनर्जी ने अपनी पुत्री भंगानी से कहा कि जब मेरा अन्तिम समय आ जाय तो वे प्राणरक्षक उपकरण हटा दें। पुत्री भंगानी ने माँ जब पूर्णतः प्राणरक्षक उपकरणों पर आश्रित हो गयी, वही किया और घण्टे के भीतर नीता बेनर्जी चिरनिद्रा में सो गई।[6]

दयामृत्यु इच्छा मृत्यु के समकक्ष नहीं है–

इच्छामृत्यु व्यक्ति की नितान्त वैयाक्तिक निर्णय होता है। इच्छा मृत्यु के समर्थकों का कहना है कि अपने जीवन को बनाए रखने या समाप्त करने का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिए। इनके दृष्टिकोण में एक स्वस्थ व्यक्ति भी अपने जीवन को समाप्त कर सकता है, किन्तु भारत का सर्वोच्च न्यायालय इसके विरुद्ध है। 1996 में न्यायालय ने निर्देश दिया है कि जीवित रहने के अधिकार के समान जीवन को समाप्त करने के अधिकार किसी को नहीं है। पाश्चात्य विचारक रूसो भी कहता है–मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, लेकिन प्रत्येक स्थान पर वह परतन्त्र होता है।[7] वस्तुतः जन्म लेना संयोग है, लेकिन जीवित रहना और जीवित न रहना एक संयोग नहीं है। इसीलिए इच्छामृत्यु को प्रत्येक समाज में आत्महत्या माना जाता है। यथार्थतः यह उचित भी है; क्योंकि कानूनी वैधता 'इच्छा मृत्यु' की प्रवृत्ति में वृद्धि प्रदान कर सकती है। कतिपय व्यक्ति मनोवैज्ञानिक या[8] जजबाती कारणों से इसका अनुसरण करने को प्रेरित हो सकते हैं। इसलिए इच्छा मृत्यु को वैधानिक अनुमति नहीं दी जा सकती है। जैसे 13 दिसम्वर, 2001 को भारतीय बी.के. पिल्लै को अपने प्राण त्यागने की अनुमति देने से अस्वीकार कर दिया। असाध्य रोग से पीड़ित पिल्लै ने न्यायालय के समक्ष तर्क रखा कि वे सम्मानजनक जीवन जीने में असमर्थ हैं। लेकिन न्यायालय ने यह कहकर उसकी याचिका अस्वीकार कर दी कि पिल्लै की याचिका के मूल्यांकन के लिए न्यायालय के पास कोई दिशा निर्देश नहीं है। न्यायालय ने कहा कि सम्भव है पिल्लै लम्बी बीमारी के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी अपने जीवन को समाप्त करना चाहते हों।[9] यही कारण है कि लगभग 100 व्यक्तियों द्वारा इच्छामृत्यु का अनुसरण करने में सहायक बनने वाले एक अमेरिकी डॉक्टर जैक कैवेर्कियन को डॉ. डैथ कहा जाता है।

यद्यपि 'दया मृत्यु' अमंगल से मंगल की यात्रा है। तथापि 'दया मृत्यु' के विषय में अन्तिम निर्णय लेना प्रभावित व्यक्ति अथवा उसके आत्मीय जनों एवं डॉक्टरों के लिए दुरूह कार्य है, जो ईश्वर की भूमिका निभाने जैसा है। यही कारण है कि दयामृत्यु की अवधारणा को लेकर

जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित अनेक प्रश्न उठाए जाते हैं। जो मुख्यतः 'दया मृत्यु' के निर्णय लेने के दुरुपयोग की आशंका पर आधारित है। कहा जाता है कि उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण के दृष्टिकोण से प्रभावित समाज के नैतिक पतन की कोई सीमा नहीं है। फलस्वरूप असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति स्वयं को परिवार या समाज पर भार समझ सकता है अथवा परिवार एवं समाज के लोग भी रोगी को वित्तीय एवं सुख-सुविधा की दृष्टि से अनुपयोगी समझ सकते हैं। अन्ततः 'दया मृत्यु' भी 'सती प्रथा' की भाँति एक बाध्यकारी विकल्प बन जायेगा। बात कष्टकारक है, मगर सत्य है कि डॉक्टर भी चन्द रुपयों के लिए 'पोस्ट मार्टम रिपोर्ट' तक को बदल देते हैं।

ध्यातव्य है कि दयामृत्यु की अवधारणा यादृच्छिक (Arbitrary) निर्णय पर आधारित नहीं है, अपितु दयामृत्यु का क्रियान्वयन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है। जो एक पैनल के गम्भीर विचार-विमर्श के निर्णय पर निर्भर होता है। इस निर्णय में वैज्ञानिक, चिकित्सकीय एवं मनोचिकित्सकों के परामर्श, रोगी अथवा आत्मीय जनों की सहमति के साथ-साथ कोई आपत्ति प्रस्तुत न किए जाने पर ही क्रियान्वित करने का निर्देश है। साथ ही दुरुपयोग की आशंका प्रस्तुत न किए जाने पर ही क्रियान्वित करने का निर्देश है।[10] साथ ही दुरुपयोग की जैसे- अल्ट्रासाउण्ड का दुरुपयोग करके 'भ्रूणहत्या' विवेकशील चिकित्सक, जननी एवं संरक्षक के द्वारा सोच समझकर ही क्रियान्वित किया जाता है। अतः किसी भी अवधारणा के दुरुपयोग को कानून से नहीं रोका जा सकता है। कर्त्तव्यबोध आत्मारोपित नैतिकता पर आधारित होता है।

इसलिए सर्वप्रथम 'अमेरिका के आरगन राज्य' ने 1997 में असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्तियों को वेदना रहित 'दयामृत्यु' अपनाने का विधिक प्रदान कर दिया। अप्रैल 2002 से हालैण्ड ने भी 'दयामृत्यु' को विधिसम्मत बना दिया। बेल्जियम ने हालैण्ड का अनुसरण किया। अब पूरे यूरोप, आस्ट्रेलिया इत्यादि ईसाई देशों में भी 'दयामृत्यु' पर गम्भीर विचार-विमर्श हो रहा है। भारत के विनोबा भावे द्वारा जीवन त्याग को 'दयामृत्यु' का दृष्टान्त माना जा सकता है; क्योंकि जब विनोबा जी ने दवा लेना बन्द कर दिया तो न्यायालय तक ने कहा था कि आप किसी व्यक्ति को जीवित रहने के लिए बाध्य नहीं कर सकते हैं।

भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन का प्रतिनिधि 'जैनदर्शन' एक व्यावहारिक जीवनदृष्टि का प्रणेता है। इस दर्शन में 'दयामृत्यु' की तरह संथारा प्रथा का प्रतिदिन किया गया है। संथारा प्रथा के अन्तर्गत जैन धर्मावलम्बी साधु एवं श्रावक जीवन के सभी उद्देश्य पूरे करने पर

सार्वजनिक रूप से तथा धार्मिक विधि विधान से आत्मोत्सर्ग हेतु स्वैच्छिक मृत्यु का आश्रय लेते हैं, जिसमें जैन मुनि उन्हें 'अन्न जल' त्याग कर जीवन से आध्यात्मिक जीवन की दिव्य यात्रा करने को अनुमति देते हैं। ज्ञातव्य है कि जैनधर्मालम्बी संथारा प्रथा का अनुसरण करते ही समाज के आदरणीय हो जाते हैं। जैनधर्म में वृद्धों, गृहस्थों, मुनियों इत्यादि के द्वारा 'संथारा प्रथा' को आत्मोत्सर्ग का साधन और साध्य मानने की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। जैन ग्रन्थों में वर्णन है कि महावीर ने संथारा प्रथा को आत्मसात् किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने जीवन के अन्तिम समय में अन्न, जल त्यागकर भारतीय राज्य कर्नाटक में भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की दिव्य यात्रा का अनुसरण किया था।[11] स्पष्ट है कि 'संथारा प्रथा' के द्वारा जैन धर्मानुयायी भौतिकता को त्यागकर आत्मोत्सर्ग के लिए दिव्य यात्रा करते हैं। जैसे 2002 में भारत के विभिन्न राज्यों में 60 जैनानुयायिओं 'संथारा प्रथा' को आत्मसात् किया था।

निष्कर्षतः ज्ञात होता है कि 'दयामृत्यु' एवं जैनदर्शन के 'संथारा-प्रथा' दोनों अवधारणाओं के साधन एवं साध्य में भिन्नता है। दया मृत्यु चिकित्सकीय साधन द्वारा शरीरिक पीड़ा से मुक्त जो स्वेच्छा या परेच्छा से सार्वजनिक के रूप से संकल्प शक्ति के आधार पर क्रियान्वित की जाती है जबकि संथारा प्रथा भौतिकता को त्याग कर आत्मोत्सर्ग हेतु दिव्य यात्रा के लिए प्रस्थान है। कहा भी है–

जहां में जब तक रहो, रहो इंसां की शान से।
वरना कफन उठाओं और चलो इस जहान से।।12

संदर्भ–

1. महाभारत (वनपर्व : यक्षप्रश्न)

2. लुडविग विटगेन्स्टाइन की कृति–'फिलॉसफीकल इंवेस्टीगेशंस' में–"Don't ask for the meaning; ask for the use."

3. इण्डिया टुडे, 17 अप्रैल 2002 में शेफाली वासुदेव का लेख।

4. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली के सम्पादकीय से उद्धृत।

5. इण्डिया टुडे।

6. वही।

7. Rosseau-'Social Contract'- (23); Man is born free however, he is very where in chain.)

8. इण्डिया टुड, वही

9. वही।

10. डॉ. रज्जन कुमार–'समाधिमरण', पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-5।

11. इण्डिया टुडे, 6 मार्च 2002 में उदय माहूकर का लेख।
12. श्रमण (जनवरी-मार्च 2006) में प्रकाशित लेख।

डॉ. सम्पूर्णानन्द का एक प्रसंग

डॉ. सम्पूर्णानन्द प्रायः कहा करते थे कि मुझे जैनदर्शन के और तो सभी सिद्धान्त अच्छे लगते हैं, किन्तु सल्लेखना की बात समझ में नहीं आती है देवयोग से जब वे मृत्युशय्या पर थे तो उन्हें बहुमूत्र रोग ने ग्रसित कर लिया। उस अवस्था में वे गीता नहीं पढ़ सकते थे। वे बड़े असमंजस में थे। उन्होंने कहा कि आज मुझे जैनदर्शन की सल्लेखना समझ में आ गई। यदि मैं सल्लेखना धारण कर लेता तो आज गीता अच्छी तरह पढ़ सकता था। सल्लेखना असाध्य बीमारी में भी हितकारी है।

आचार्य विनोबा भावे द्वारा सल्लेखना ग्रहण

भूदान आन्दोलन के प्रणेता आचार्य विनोबा भावे ने जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण कर ली थी वे जैन सिद्धान्तों से पूरी तरह सहमत थे। उनका सल्लेखना सम्बन्धी समाचार सुनकर भारत की प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी उनसे मिलने गईं और कहा कि आप भोजन-पान ग्रहण करते रहें। उस समय विनोबा जी ने कहा—मुझे अपना अन्त दिखाई दे रहा है, कृपया आप मेरे और भगवान के बीच में न आयें। विनोबा जी ने पहले ही बतला दिया था कि मेरा मरण भगवान् महावीर के मोक्ष दिवस के दिन होगा। वैसा ही हुआ यह उनके पवित्र भावों का परिणाम था।

उपसर्ग विजेता, परम पूज्य गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी महाराज द्वारा लिखित, सम्पादित एवं संकलित तथा श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित प्रवचन सत् साहित्य

सं.	नाम	मूल्य
1.	संस्कृत सर्वोदया टीका (वारसाणुवेक्खा) भाग 1-2	400
2.	संस्कृत रत्नत्रयवर्धिनी टीका (रयणसार) भाग 1-2	400
3.	संस्कृत श्रमणप्रबोधिनी टीका (लिंग पाहुड)	300
4.	संस्कृत श्रमणसम्बोधनी टीका (शीलपाहुड)	300
	(शोधपूर्ण साहित्य)	
5.	शुद्धोपयोग	40
6.	सम्यग्दर्शन	35
7.	आगम चक्खू साहू	25
8.	सल्लेखना से समाधि	80
9.	संत साधना के प्रेरक प्रसंग	30
10.	परम दिगम्बर जैन मुनि (हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	60
11.	सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म (हिन्दी, अंग्रेजी)	40
12.	तीर्थंकर दिव्य दर्शन	60
13.	तीर्थंकर दर्शन	300
14.	व्यसन विचार प्रवचन	–
15.	फूल नहीं, हैं काँटे	–
16.	संस्कार सुरभि (हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी)	30
17.	जिनेन्द्र दर्शन, जिनेन्द्र पूजन	15
18.	आध्यात्मिक शंका समाधान	50
19.	आध्यात्मिक तत्व-चर्चा	50
20.	श्रमण आहारचर्या	60
21.	आर्यिका चर्या एवं पात्र भक्ति	60
	(चिंतन साहित्य)	
22.	चैतन्य चिन्तन भाग-1 (हिंदी, अंग्रेजी)	25
23.	चैतन्य चिन्तन भाग-2 (हिंदी, अंग्रेजी)	25
24.	चैतन्य चिन्तन भाग-3 (हिंदी, अंग्रेजी)	25
	(बालोपयोगी साहितय)	
25.	बाल विज्ञान भाग-1 (हिन्दी, इंग्लिश, मराठी, कन्नड़)	20
26.	बाल विज्ञान भाग-2 (हिन्दी, इंग्लिश)	20

27.	बाल विज्ञान भाग-3	20
28.	बाल विज्ञान भाग-4	20
29.	कर्म विज्ञान भाग-1(हिन्दी, इंग्लिश)	20
30.	कर्म विज्ञान भाग-2	20
31.	कर्म विज्ञान भाग-3	20
32.	जैन लोक विज्ञान	–
	(कथा साहित्य)	
33.	नैतिक कथा मंजूषा भाग-1 (हिन्दी, अंग्रेजी)	40
34.	नैतिक कथा मंजूषा भाग-2 (हिन्दी, अंग्रेजी)	40
	(अनुवाद साहित्य)	
35.	वारसाणुवेक्खा	175
36.	परमरत्लार्चना संग्रह	20
37.	सामायिक पाठ (हिन्दी, गुजराती)	20
38.	पागद भत्ति संगहो	50
	(पद्य साहित्य)	
39.	भावों के विशुद्ध क्षण	20
40.	मुक्तकाञ्जलि भाग-1	20
41.	मुक्तकाञ्जलि भाग-2	20
42.	नव देवता निर्वाण क्षेत्र पूजा	–
	(संकलित/सम्पादित साहित्य)	
43.	साधना से समाधि	25
44.	विमल नित्य पाठवलि	125
45.	आराधना	175
46.	सुभाषित संग्रह	40
47.	आप्त अर्चना	
48.	मानतुंग की अमर भक्ति (सचित भक्तामर)	100
49.	साधना	50
50.	अनुप्रेक्षा	20
51.	जिनागम दीप	350
52.	सम्मेद शिखर विधान	
53.	चारित्र शुद्धि व्रत	40
54.	करुणामूर्ति सन्त	150
55.	तपस्वी सम्राट	20

56.	यज्ञोपवीत विधि	
57.	साधना के सोपान	
58.	पदम् पुराण प्रश्नोत्तरी	125
59.	स्तोत्र भारती	60
60.	छहढाला	30
61.	तत्त्वार्थसूत्र	30
62.	द्रव्य संग्रह	20
63.	इष्टोपदेश (प्रवचन)	150
64.	वर्षायोग	

(एकांकी/नाटक साहित्य)

65.	सत्यमित्र-सत्यदृष्टि	
66.	प्रद्युम्न हरण	

(पूज्य आचार्य श्री पर आधारित साहित्य)

67.	विरागाभिवंदन अभिनंदन I, II	300
68.	निस्पृही संत भाग 1-2	80
69.	विराग सेतु (महाकाव्य) (हिन्दी, गुजराती, प्राकृत) भाग-1	150
70.	विराग सेतु (महाकाव्य) भाग-2	
71.	संत काव्य की परम्परा में आचार्य विरागसागर	65
72.	कमल के महाकमल	
73.	घटनायें ये जीवन की	150
74.	दिगम्बरत्व के चितेरे	150
75.	विराग सिंधु की उर्मियाँ	15
76.	विराग वाटिका	300
77.	भक्ति की झंकार भाग-1,2,3	41
78.	विराग काव्यांजलि	30
79.	विरागादर्श	150
80.	आत्मानुशासक	100

(प्रवचन साहित्य)

81.	धर्म पियूष	30
82.	ऐसे चलो मिलेगी राह	40
83.	दूर नहीं है मंजिल	30
84.	उड़ रे पंछी	15
85.	तीर्थंकर वर्धमान	25

		25
86.	पहले देव-पूजा फिर काम दूजा	150
87.	तीर्थंकर ऐसे बनो	20
88.	तट की ओर	150
89.	सिर्फ दो प्रवचन	150
90.	इष्टोपदेश (प्रवचन)	150
91.	मानतुंग की अमरभक्ति (भक्तामर-प्रवचन)	30
92.	कल्याणक महोत्सव	30
93.	दान तीर्थ	30
94.	धर्म के दश सोपान	30
95.	जीवों पर दया करो, शुद्ध शाकाहार करो	25
96.	बुराईयाँ ही जेल, अच्छाईयाँ ही मुक्ति	35
97.	प्रवचन वर्षा	35
98.	कर्तव्यमेव कर्तव्यं	35
99.	श्रद्धा प्रसून	35
100.	मोक्ष की राह	50
101.	विरागमृत-1	
102.	विरागमृत-2	150
103.	समाधि तंत्र (प्रवचन)	25
104.	समयोचित शिक्षायें भाग-1	25
105.	समयोचित शिक्षायें भाग-2	25
106.	समयोचित शिक्षायें भाग-3	5
107.	विराग मंथन (हिन्दी, अंग्रेजी)	51
108.	रजत पुष्प	50
109.	कहानी सबसे सुहानी	20
110.	अक्षय निधि (हिन्दी, अंग्रेजी)	30
111.	संस्कार की लहरें	30
112.	चलों चलें प्रभु दर्शन को	40
113.	आध्यात्मिक धर्म प्रवचन	30
114.	घर-घर की कहानी	150
115.	वारसाणुवेक्खा (प्रवचन)	15
116.	पर्यूषण निधि	300
117.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 1. धर्मोपदेशामृततम्	60
118.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 2. दनोपदेशाम्	

119.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 3. अनित्य पश्चाताप्	80
120.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 4-5. एकत्व समाप्ति तथा यतिभावनाष्टकम्	100
121.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 6. उपासक संस्कार	80
122.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 7. देशव्रतोद्योतनम्	100
123.	पद्मनंदि पंचविंशतिः अधिकार 8-9 सिद्धस्तुति एवं आलोचना	100
124.	आचार्य विराग सागर साहित्य दर्शन	10
125.	मेरी भावना प्रवचन	50
126.	फॉर यूथ प्रोग्रेस I, II	40
127.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार प्रवचन भाग-1	125
128.	सामायिक पाठ प्रवचन	85
129.	विराग संध्या	20
130.	विराग अर्चना	40
131.	स्वर्ग पुष्प	50
132.	षट्लेश्या प्रवचन-अपनी-अपनी आभायें	80
133.	ऐसे बनायें घर को स्वर्ग	40
134.	क्यूँ इतना अभिमान है....	40
135.	सिद्धों का खजाना	40
136.	अपने नैतिक कर्त्तव्य	40
137.	श्रुतज्ञानवर्धक विधान	30
138.	अंग-अंग से झरता बोध	40
139.	महावीर विधान	20
140.	आओ घर को स्वर्ग बनायें	30

Video D.V.D

1. आचार्य पदारोहण द्रोणगिरि
2. राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा जयन्ती, उद्गाँव
3. उपसर्ग पर उत्कर्ष की यात्रा
4. आर्यिका विशान्तश्री माताजी, समाधि
5. व्यसन मुक्ति शाकाहार अभियान
6. लोक और मध्यलोक
7. ज्योतिर्लोक और चन्द्रयात्रा
8. जेल प्रवचन
9. स्कूल प्रवचन
10. शाकाहार रैली

11. अहिंसा रैली
12. न्यायालय में प्रवचन
13. 25 दीक्षायें-श्रवणबेलगोला
14. 11दीक्षायें-गाधीनगर
15. 8 दीक्षायें-गिरनारजी
16. 11 दीक्षायें-किशनगढ़
17. 26 दीक्षायें-उदयपुर
18. 25 दीक्षायें-जयपुर
19. 8 दीक्षायें-इन्दौर
20. स्वर्णिम जन्म जयन्ती
21. सिद्धांत एवं आध्यात्मिक प्रवचन (वारसाणुवेक्खा, सामायिक पाठ, तत्त्वार्थ सूत्र, पद्मनंदि पंचविंशतिका भाग-1-14)
22. मातृभक्ति
23. देश के नाम कलंक बूचड़खाने

Audio D.V.D

1. श्यामा के लाल
2. साधना के सरताज
3. गुरुवर का जयकार
4. प्रवचन वर्षा (दशधर्म, सोलहकारण)
5. श्री विराग सागर नमोऽस्तु ते
6. करें गुरु भक्ति
7. चलें गुरुवर के द्वार
8. गीत गुरु के गायेंगे
9. जियो हजारों साल गुरुवर
10. मेरे मन वीणा के तारे
11. विराग स्वर्णोत्सव
12. रजतवर्ष मुनिदीक्षा का
13. आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज पूजा
14. हे सन्मति-सन्मति दो
15. स्वर्णिम जयन्ती याद रहेगी
16. प्रथम सूरि बुंदेलखण्ड के
17. गुरु नाम की धूम मची है

मुनि श्री विश्वधैर्य सागर जी महाराज (2000) - श्री सम्मेद शिखर जी

मुनि श्री विश्ववधर्म सागर जी महाराज (2003) - भिलाई

आर्यिका विधान श्री माताजी (2004) - नागपुर

आर्यिका विशांत श्री माताजी (2008) - उदगावं

मुनि श्री विश्वप्रिय सागर जी (2008) - मुम्बई

मुनि श्री विश्वविभ्रुसागर जी (2009) - हिम्मतनगर, गुजरात

आर्यिका विप्रमुक्ता श्री माताजी (2012) - जयपुर

मुनि श्री विश्वजीत सागर जी (2012) - जयपुर

मुनि श्री विश्वभूतेश सागर जी (2012) - जयपुर

मुनि श्री विश्वाक्ष सागर जी (2012) - कीर्ति नगर, जयपुर

मुनि श्री वि वे वर सागर जी .2012 . जयपुर

2013 मुनि श्री विश्रेय सागर जी (2013) - देवली

आर्यिका विभाल श्री माताजी (2014) - खजुराहो

आर्यिका विहंस श्री माताजी (2014) - छत्तरपुर

मुनि श्री विश्वस्तसागर जी (2017) - जनकपुरी, दिल्ली

मुनि श्री विश्वपूज्य सागर जी (2017) जनकपुरी, दिल्ली

मुनि श्री विश्वदर्शसागर जी (2018) - मवाना

क्षुल्लिका विप्रसन्नश्री माताजी (2018) - इटावा